पुष्टिमार्गकी आचार्यत्रयी

गोस्वामी श्याम मनोहर

प्रकाशक : गोस्वामी श्याम मनोहर
६३,स्वस्तिक सोसायटी
जुहु चौथा रस्ता, विलेपार्ले
मुम्बई, ४०००५६

सहयोगप्रकाशन : शोभाबेन एल.भाटिया,
कान्दिवली, मुम्बई ४०००६७

प्रथमसंस्करणम् : वि.सं.२०७६.

प्रति : ५००

निःशुल्कवितरणार्थ

मुद्रक : पूर्वी प्रेस
राजकोट

प्रकाशकीय

श्री वल्लभ - गोपीनाथ - विट्ठलेशांऽघ्रि रे ण वः ॥
राजन्तां मस्तके शश्वत् कलिकल्मषनाशकाः ॥१॥
उ भा व न्यो न्य सं ह्ष्टौ ह्यु भा व न्यो न्य सं स्थि तौ ॥
तावहं सर्वदा वन्दे श्री म द्व ल्ल भ न न्द नौ ॥२॥

श्रीमदाचार्यचरणके नित्यलीलाप्रवेशके बाद प्रभुचरण श्रीविट्ठलनाथजीके लिये "पितृप्रवर्तितपथप्रचारसुविचारकः आचार्यरत्नं सर्वानुग्रहकृन्मन्त्रवित्तमः" (नाम.स्तो.१२,२३) ये तीनों नाम केवल स्तुत्यर्थ हैं, ऐसा तो वही व्यक्ति कह पायेगा जिसने श्रीवल्लभके ग्रन्थों और सम्प्रदाय के इतिहास का भलीभांति अध्ययन न किया हो. इस तथ्यको भी, परन्तु, इन्कारा नहीं जा सकता कि इस नामरत्नाख्यस्तोत्रके कर्ता स्वयं प्रभुचरणके पंचम आत्मज हैं. यदि ज्येष्ठात्मज श्रीगोपीनाथजीका भी वंश आगे चलता और उनके द्वारा और उनके बारेमें रचित साहित्य भी उसी प्रमाणमें उपलब्ध हो पाता तो, ऐसे ही स्तोत्र आदि श्रीगोपीनाथजीके बारेमें भी पढ़ने अवश्य मिल जाते.

हम गोस्वामिओंके परिवारमें प्रायः अपने ही पूर्वजोंकी पादुका सेवामें बिराजती होती हैं. जन्मोत्सव भी अपने ही पूर्वजोंके मनाये जाते हैं. कदाचित् श्रीव्रजरायजी (३/२गृहः सुरत) के घरमें ही इदंप्रथमतया श्रीगोपीनाथजीके जन्मोत्सव मनानेकी प्रणाली श्रीव्रजरायजीके ही समयसे आरम्भ हुयी होगी, क्योंकि प्रभुचरणकृत "यदनुग्रहतो जन्तुः सर्वदुःखातिगो भवेत् तमहं सर्वदा वन्दे श्रीमद्वल्लभनन्दनम्" (मंगल.२) स्तुतिके बाद श्रीव्रजरायजी एवं उनके धर्मपुत्र पुष्टिसाहित्यके आधारस्तम्भोपम श्रीपुरुषोत्तमजी के अलावा अन्य किसीने श्रीगोपीनाथजीकी स्तुति की हो ऐसा मिलता नहीं है. हां कुछ तीन-चार व्रजभाषाके पद 'रसिकदास'उपनामक या

तो श्रीहरिरायजीकृत माने जाते हैं. अथवा १२० वचनामृतकार श्रीगिरधरजीके अनुसार ''श्रीगोपिकालंकारजी दादाजीने पद किये हें सो तामें 'रसिकदास' एसी छाप धरी हे'' (१२०वचनामृत.३१) श्रीगोपिकालंकारजीकृत हो सकते हैं. इन व्रजभाषाके दो-चार पदोंके अपवादको छोड़ कर किसीने प्रकट नहीं किये. कहा जाता है कि सुरतमें षष्ठात्मज श्रीयदुनाथजीके उत्सवमें पहले श्याम चुनरीके वस्त्र श्रीबालकृष्णलालको धराये जाते थे परन्तु छड्डे घरके दावाके विवादके बाद वस्त्रशृंगार आदिकी विधिमें संशोधन कर दिया गया. इस तरह कहीं और क्रमपरिवर्तन किया गया हो तो कहा नहीं जा सकता.

८४ वैष्णवकी वार्ताओंमें मिलते वृतान्तोंके आधारपर यद्यपि दोनों भाईयोंमें किसी भी प्रकारका कलह या मनोमालिन्य न था. फिरभी, श्रीकृष्णदासजीने जो मथुराकी सेठानी गंगाबाई क्षत्राणी श्रीनाथजीके मन्दिर बिठा रखी थी, उसे लेकर प्रभुचरणके ''तिहारो ही कियो भोगत हें'' वचनका बुरा मान कर श्रीकृष्णदासजीने श्रीगोपीनाथजीके पुत्र श्रीपुरुषोत्तमजीको उत्तराधिकारी बनाना चाहा. जैसाकि कहा गया है, ''श्रीगुसांईजीने अपनो सब हुकुम करि राख्यो हे. टिकेत तो तुम हो'' ऐसा कह कर कलह करवा दिया था (द्रष्ट.८४ वै.वा.८४/७).

पुष्टिभक्तिके सम्प्रदायमें बादमे इस तरहके अनेकानेक कलहोंके मूलमें इस टिकेतवादी धारणाका बड़ा हाथ रहा है. तीसरी पीढ़ीपर श्रीगिरधरजीके ज्येष्ठात्मज मुरलीधरजी, जो मुगल बादशाहके दरबारमें चाकरी करते थे; और उनके काका चतुर्थात्मज श्रीगोकुलेशके बीच बाहशाही पोशाकमें श्रीजीके मन्दिरमें आना उचित है या नहीं प्रश्नपर कलह हो गया और उन्होंने अपने प्रबल प्रतापी काकाको '''जो चाचाजी हो तो अपने घरके हो. हमसों तीन तोफान मति करियो नहीं तो याको फल दिखाय दउंगो और श्रीदादाजीकों भोले जानिके तुम सबन दबाय लिये हें और मोकों तुम ऐसे मति जानियो' सो

यह सुनिके श्रीगोकुलनाथजी चुप होय रहे. और सब बालक हते सो तिनकों बुरी लगी. तब श्रीगोकुलनाथजीने इतनी कही जो जा दिनां श्रीदादाजी न होंयगे आपुनकों ये श्रीगोकुलवास नहीं करिवे देंगे'' (१२० वचनामृत.७१) क्योंकि गोकुल और जतिपुरा गांव गोस्वामिपरिवारकी जागीर थी जिस ज्येष्ठपुत्रतया पैत्रक अधिकार श्रीमुरलीधरजीमें निहित होनेवाला था.

यह कलह दो पीढ़ी बाद तो और भी अधिक जघन्य स्तरपर उतर गया. प्रथमात्मज श्रीगिरिधरजीके ही दूसरे पुत्र श्रीदामोदरजी और तीसरे पुत्र श्रीगोपीनाथजी वंशोंमें श्रीविट्ठलरायजी और श्रीमथुरानाथजी हुवे. उनमें परस्पर इस मुद्देपर विवाद हो गया कि श्रीगोवर्धनाथजीको भेंटमें आये हुवे धन हड़पनेका अधिकार किसको है! यह मुगलदरबारके फैसले ''विट्ठलराय व मथुरानाथ दोनों भाई हैं. मथुरानाथका... दूसरा दावा यह है कि पूजाके मौसममें आदमी जो भेंटके वास्ते चीजें लाते उसमेंसे वे हड़प कर जाते हैं... उस मौसममें हमें पूजा न करने दी जाये तो हमारा एक आदमी उनके साथ रहे कि वे हड़पने न पाये... विट्ठलरायका कहना है कि ये भी दस्तूर नहीं है. बुजुर्गोंमें कभी ऐसा नहीं हुवा. जहानके मानने लायक हुकुम जारी हुवा कि जो जाब्ता कदीम ज़मानेसे चला आता है वो जारी रखा जाये... शुकरानेके छ हजार विट्ठलरायसे व चार हजार मथुरानाथसे कुल दस हजार रुपया लेकर खजाने-सरकारमें दाखिल किया जाये'' (द्रष्ट.'अनुगह'मासि.अंक.२पृ.२७). चारसौ साल पहले दस हजार रुपयाकी कीमत क्या थी यह विचारनेपर विवादकी गंभीरताका खयाल बांधा जा सकता है.

श्रीहरिराय महाप्रभुके पिता श्रीकल्याणराजीके निज हस्ताक्षरोंमें लिखित एक पत्रमें इस सन्दर्भमें यह स्वीकारा गया था कि ''वल्लभाचार्यतें आरम्भ करि किनने हु अधिकार कियो नहि. एक मनुष्य राखते

सो अधिकार करतो. ऊंहांकी कछु वस्तु लेनी नहीं हमारी प्राचीन रीति यह हे. ता पाछे दामोदर अधिकार करत हुते अब विट्ठलराय करत हें'' (द्रष्ट.पुष्टिभक्तिका व्यापारीकरण पृ.११७-११८).

इस तरह तबसे लेकर अधुनातन काल पर्यन्त अनेकानेक कलह, श्रीकृष्णमें केवल निरुपाधिकस्नेहरूपा पुष्टिभक्तिवाले सम्प्रदायमें ज्येष्ठभ्राभाताके सर्वाधिकारवाद Law of primogeniture के विरुद्ध कनिष्ठभ्राताओंके अधिकारके दावेका कलिकल्मष परस्पर एकदूजेकी हत्या तककी निम्नस्तरीय मनोवृत्तिमें विकृत हुवे, यह जानकारोंसे छुपा हुवा नहीं है.

परिणामरूपेण ज्येष्ठभ्रात्रधिकारवादी कतिपय गो.बा. प्रभुचरण श्रीविट्ठलनाथजीके व्यक्तित्व और कृतित्व पर अन्यथारोप लगाते रहते हैं और कनिष्ठभ्रात्रधिकारवादी कथञ्चित् प्रभुचरण श्रीगोपीनाथजीमें कुछ न कुछ न्यूनता खोजते रहते हैं. यह तो अत्यन्त निन्दनीय मनोविकार है, घोर आपत्तिजनक भी!

वार्तासाहित्यमें ही नहीं व्रजभाषामें प्रकट वचनामृतोंमें भी यह बहुधा निहारा जा सकता है. प्रभुचरण श्रीविट्ठलनाथजीके सेवक श्रीगोपालदासजी रचित 'वल्लभाख्यान'की 'भावार्थदीपिका' व्याख्याकारने उसे उघाड़ा पाड़ा ही था, सौडेढ़ सौ वर्षपूर्व. फिरभी सम्प्रदायमें सांप्रदायिक सिद्धान्त या परम्परा की दुहाई दे कर कही-लिखी अनर्गल यद्वा तद्वा बातें भी दो-चार पीढ़ीके बाद बड़ोंके मत अर्थात् वचनामृत(!)के रूपमें प्रचलित हो ही जाती हैं.

स्वयं मेरे भतीजेने एकबार मुझे कहा कि ''आप सिद्धान्तके उन वचनोंको सर्वसाधारण जनताके बीच प्रकट करते रहते हो जिनको सुनकर अनुगामी वैष्णव जनताका हितके बजाय अहित अधिक होता है. वह हमारे दोष देखने लग जाते हैं!'' मैंने पूछा ''परदोष नहीं

देखना यह जितना धर्म्य है, उतना ही दुष्टाचरणसे बचना भी आवश्यक है कि नहीं?'' तो वह बोला कि ''वह तो ठीक है पर अपन तो साक्षात् पुरुषोत्तमरूप हैं 'बालक सब ब्रह्म जानिये' वचन प्रमाण है. सो अपन कुछ भी करें हमारी अनुगामी वैष्णवसृष्टिमें हमारे दोष देखना तो उनका पुष्टिमार्गसे अध:पात ही कहलायेगा कि नहीं!'' मैंने पूछा कि ''तब तो 'हरि गुरु वैष्णव एक करि जानिये' वचनके अनुसार वैष्णवोंमें हमारे दोष देखनेका दोषदर्शन भी हमारे अध:पातका हेतु बनेगा कि नहीं''. वह बोला ''अपन तो सब साक्षात् पुरुषोत्तमरूप ही हैं 'स्ववंशे स्थापिताशेषस्वमाहात्म्य:', 'श्रीगुसांईजीके सात बालक और वल्लभकुल के चरणोदकमें श्रीआचार्यजीको भाव जनायो', आप मानते हो या नहीं?'' मैं घबरा गया और पूछ बैठा कि ''तब बता तेरेमें महाप्रभुका कौनसा पुरुषोत्तमी माहात्म्य है, चल दिखला!'' परन्तु वह बेझिझक पूछने लगा कि ''श्यामुकाका! आप खुदकु पुरुषोत्तम नहीं मानो हो क्या!'' मैंने कहा कि ''कई गो.बा.ओंकी अपमृत्यु होनेके इतिवृत्त मिलते हैं. उदाहरणतया पुर्तगाली राज्यमें एक गो.बा. डकैती करते रंगे हाथ पकड़े गये थे. उन्हें दिव-दमणमें पुर्तगाली सरकारने तोपके मुंहके सामने रख कर उड़ा दिया था. सो साक्षात् पुरुषोत्तमत्व तब कहां गया?'' ऐसी तो अनेक घटनायें इतिहाससिद्ध हैं जो हमारे पुरुषोत्तम होनेके दावेको खोखला सिद्ध करती हैं. परन्तु बड़ोंके वचनामृत इस आशयके व्रजभाषासाहित्यमें मिलते तो हैं ही.

खैर, कामवनके श्रीगोविन्दप्रभुके उपदेशसुधा ग्रन्थमें ''स्वाचार्यै: श्रीविट्ठलेशै: तथा श्रीपुरुषोत्तमै: कृतान् श्रीहरिरायाद्यै: ग्रन्थान् श्रीद्वारिकेश्वरै: संस्कृतान् प्राकृतान् पश्येत्... मूलग्रन्थाविरुद्धोऽशो भाषाग्रन्थेषु दृश्यते मान्यो, नान्योऽत्र मान्यो हि ज्ञेयोऽसौ धूर्तकल्पित:'' (उप.सु.१६१-१६४) वचनमें दरसायी गयी सिद्धान्तावगमकी नीति ही मुझे इस सन्दर्भमें श्रेयस्कर लगती है. क्यों कि यदि स्वयं श्रीविट्ठलनाथजी अपने अग्रजके लिये जहां ''यदनुग्रहतो जन्तु: सर्वदु:खातिगो भवेत् तमहं सर्वदा वन्दे

श्रीमद्वल्लभनन्दनम्'' आज्ञा करते हों, वहां उसके विपरीत वार्ताभावप्रकाशका ''याहीते श्रीगोपीनाथजी यद्यपि श्रीगुसांईजीके बड़े भाई हें परन्तु काहू वैष्णवने चरणोदक नाहीं लियो'' ऐसा विधान श्रीगोपीनाथजीके प्रति निश्चयेन निन्दावचन ही है, धूर्तकल्पित. जबकि अन्यान्य प्रमाणोंके आधारपर महाप्रभुके बाद तीनवर्ष पर्यन्त श्रीगोपीनाथजी आचार्यगादीपर बिराजे थे (द्रष्ट.जगन्नाथपुरी ताड़पत्र नि.ली.श्रीव्रजरत्नलालजीप्रकाशित तथा श्रीनाथजी प्राकट्यवार्ता).

अतएव सन् १९६७-६८में जब श्रीप्रभुचरणके प्रति ऐसे निन्दात्मक उद्गार किसी ज्येष्ठभ्रात्रधिकारवादी गो.बा.के चढ़ानेसे वाराणसेय सम्पूर्णानन्द संस्कृत विद्यालयके वल्लभवेदान्तविभागाध्यक्षके ग्रन्थमें प्रकाशित मेरी निगाहमें आये, तब मैंने कर्तव्यबुद्धया उसका प्रतिवाद लिखना जरूरी समझा. वह प्रतिवादात्मक लेख इस पुष्टिभक्तिसम्प्रदायकी आचार्यत्रयी ग्रन्थमें यत्किञ्चित् संशोधनके साथ पुन:प्रकाशित कर रहा हूं. साथ ही साथ श्रीविट्ठलनाथजीके कृतित्वपर उठाये गये आरोपोंके निरसनार्थ भी मैंने जो लेखबद्ध किया वह अणुभाष्यके चतुर्थाध्यायकी भूमिकाके रूपमें मैंने प्रकाशित किया था, उसे भी यहां संयोजित कर देना मुझे उचित लगा. उसमें केवल महाप्रभु श्रीवल्लभको ही आचार्य मानना चाहिये, ऐसे मतके समालोचनार्थ आचार्यद्वयीकी बात मैंने तब कही थी. क्योंकि तब आक्षेप प्रभुचरण श्रीविट्ठलनाथजीपर था. उसमें मेरा तात्पर्य सम्प्रदायाचार्य नहीं पर भाष्यकाराचार्य होनेसे था. सो यहां किञ्चित् संशोधनके साथ उसे भी योजित किया गया है.

अब हालमें लघुभ्रातृवादिओंके जड़ाग्रह या दुराग्रह के निरसनार्थ फेसलेस् फेसबुकपर मेरे नामसे अकारण गालीगलौचके साथ विवाद छेड़ा गया. श्रीगोपीनाथजी श्रीवल्लभाचार्यके ज्येष्ठात्मज होनेपर भी सम्प्रदायमें आचार्य नहीं माने जा सकते, ऐसी अनर्गल बकवादका भी प्रतिवाद आवश्यक लगता होनेसे सुस्पष्ट शब्दोंमें आचार्यत्रयीका पक्ष रख रहा हुं.

प्रस्तुत विवादमें प्रभुचरण श्रीविट्ठलनाथजीका पक्ष लेकर अकारण क्षुद्रमति और गर्हित मनोभावों के वश प्रभुचरण श्रीगोपीनाथजीका आचार्यत्व इन्कारा जा रहा है. वैसे तो इसका भी प्रतिवाद मुझसे पूर्व अन्य अनेक मनीषियोंने किया ही है. फिरभी आधी-अधूरी पुष्टिमार्गकी जानकारीवाले चि.अनुरागरायजीने केवल मुझे गाली देनेके वास्ते श्रीगोपीनाथजीको घसीटना चाहा. उसका निरास अभिप्रेत होनेसे विषयमर्यादा कुछ बंध गयी है.

सर्वप्रथम इस सन्दर्भमें यह नितान्त अवधेय है जो महाप्रभुकी शिक्षाश्लोकीमें ''यदा बहिर्मुखाः यूयं भविष्यथ कथञ्चन तदा कालप्रवाहस्थाः देहचित्तादयोऽप्युत सर्वथा भक्षयिष्यन्ति युष्मान् इति मतिर्मम'' (शि.श्लो.१) उपदेशमें दरसाया गया है. ऐसी कालप्रवाहिता या कलिकल्मषग्रस्तता या पारस्परिक रागद्वेषका यदि लेशमात्र इन दोनों श्रीवल्लभात्मजोंमें होता तो इनके वंशज या अनुगामिजन श्रद्धावश कुछ भी स्तुति बढ़ाचढ़ा कर प्रकट कर सकते माने भी जा सकते हैं. परन्तु शांकर सम्प्रदायके धुरन्धर श्रीमधुसूदन सरस्वती जो श्रीविट्ठलनाथजीके विद्यागुरु भी माने जाते हैं, वे कथमपि आचार्यचरण और प्रभुचरण की स्तुतिमें ''यः श्रीवल्लभहृदये सदयः सम्यग् विराजते नूनं सहि कृष्णो भावात्मनि वसतु मे मानसे नित्यं. सदोद्धर्ता स्वेषां परमरुचिकर्ता हरिगुणे विकर्ता चित्तस्य स्वगुणगणरोमाञ्चनिचयैः पराकर्ता प्रायो निजनिखिलदोषाश्रयधियां स भर्ता मे नित्यो जयति सततं विट्ठलहरिः'' (आनन्दमन्दाकिनी १७६, १७७) ऐसे शब्दप्रयोग कभी कर नहीं सकते थे. चैतन्यसम्प्रदायके महाप्रभुद्वारा नियुक्त पुजारियोंको निकाल देनेके बाद दोनों सम्प्रदायोंके बीच मनोमालिन्य बढ़ जाना स्वाभाविक था. फिरभी चैतन्यसम्प्रदायके श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती और श्रील रघुनाथ गोस्वामी भी अपने गोपालदेवाष्टक और गोपालराजस्तोत्र में क्रमशः ''प्रकटितनिजशक्त्या वल्लभाचार्यभक्त्या स्फुरतु हृदि सएव श्रीलगोपालदेवः'', ''विविधभजनपुष्पैः इष्टनामानि गृह्णन् पुलकिततनुरिह श्रीविट्ठलस्योरुसख्यैः प्रणयमणिसरं स्वं हन्त तस्मै ददानः प्रतपति गिरिपट्टे सुष्ठु गोपालराजः'' (गो.दे.७, गो.रा.१४) ऐसा निरूपण

पिता-पुत्रका करते हैं. इन बाप-बेटोंकी भक्ति कलिकल्मषसे लेशमात्र भी संस्पृष्ट होती तो ऐसे गुणप्रकर्षका निरूपण सम्भव नहीं था. लगता है वल्लभाख्यानकार गोपालदासजीकी "रत्नमुक्तावली पाटसूत्रे करी गलसरी शोभिता करे शृंगार, विविधकुसुमावली ग्रथित हाथे करि एक-एकने कंठे आरोपे हार" (वल्लभा.७।१२) की कड़ीका अनुरणन श्रील रघुनाथ गोस्वामी भी कर रहे हैं. इसी तरह श्रीनाभादासजी भी पुष्टिमार्गीय न होनेपर भी "वल्लभसुत बल भजनके कलियुगमें द्वापर कियो, श्रीविट्ठलनाथ व्रजराज ज्यों लाड लडाय सुख दियो" (भक्तमाल ७९) जब कहते हैं तो श्रीकृष्णभक्तिमें परस्पर एकदूजेके अधिकारको हड़पनेका कलिकल्मष इन दोनोंमें से किसीमें भी सोचा कैसे जा सकता है? अतएव ऐसे श्रीविट्ठलनाथजी जब "यदनुग्रहतो जन्तुः सर्वदुःखातिगो भवेत् तमहं सर्वदा वन्दे श्रीमद्वल्लभनन्दनम्" स्वीकारते हों तो इसे केवल अग्रज होनेके कारण दरसाई गयी अनुजकी लोकव्यवहारौपयिक शालीनतामें कैसे खपाया जा सकता है?

अतः यदि सर्वोत्तमस्तोत्रमें "भुवि भक्तिप्रचारैककृते स्वान्वयकृत् पिता स्ववंशे स्थशपिताशेषस्वमाहात्म्य" (सर्वो.स्तो.२२) अपने जनकके नामव्याजसे आत्मश्लाघा प्रभुचरण न कर रहे हों तो स्वानुग्रहसे सर्वदुःखापहारी सर्वदा वन्दनीय अपने अग्रजको इन नामोंका अविषय क्यों और कैसे मानेंगे? परवर्ती प्रभुचरणके वंशजोंमें से श्रीगोकुलनाथजीने तो 'अन्वय'पदको पुत्रपरक ही केवल माना, जो श्रीगोपीनाथजीपर भी लागु होगा ही. ऐसे ही श्रीरघुनाथजीने अपत्यपरम्परापर माना सो वह भी दोनों आत्मजोंमें साधारण है. अन्तर केवल इतना पड़ता है कि अग्रजकी अपत्यपरंपरा पुत्रपर आ कर थम गयी और अनुजकी अपत्यपरम्परा अद्यावधि विद्यमान है. हां तीसरी पीढ़ीपर श्रीगोपेश्वरजीने, अवश्य, केवल श्रीविट्ठलनाथपरक माना. परन्तु श्रीहरिरायजीने, पुनः, विशेषणरहित केवल वंशपरक ही माना, तो श्रीगोपीनाथजी भी वल्लभवंशज तो हैं कि नहीं? श्रीविट्ठलरायात्मजवल्लभजीने विद्यावंशनिवारणपूर्वक साक्षाद् वंशपरक माना,

वह भी दोनोंके बारेमें समानरूपेण लागु होगा. वदनानलदासजीने भी यों ही माना; अन्तमें, श्रीद्वारकेशजीने भी दोहाओंमें विद्यावंशवारणपूर्वक साक्षात् वंशपरक ही माना है. एतावता पुत्रत्व या साक्षाद् वंशजत्व श्रीगोपीनाथजी एवं श्रीविट्ठलनाथजी दोनोंमें ही समानरूपेण व्याप्त धर्म है. सो केवल एक टीकाकारने मात्र श्रीविट्ठलनाथजीपरक माना. अतः इन नामोंमें प्राचीन व्याख्याकारोंके अनुसार अग्रजका व्यावर्तन अभिप्रेत नहीं माना जा सकता. अपने पूर्वजके प्रति श्रद्धातिशयप्रयुक्त, किन्तु स्वयं निजपूर्वजके लिये भी श्रद्धेयतर अग्रजका नाम स्फुरित न हुवा तो कौन सा पहाड़ गिर जायेगा! जैसे श्रीसूरदासजीको कृष्णलीलागानकी तन्मयतामें आचार्यचरणका गुणगान स्फुरित न हुवा पर प्रश्न उठनेपर यही कहा कि दोनोंमें भेद जाना ही नही था तो अलगसे गान क्यों करता? एतावता अनभिप्रेत कैसे माना जा सकता है?

अतएव अन्य कोई बहाना निकाल न पाता होनेसे एक मिथ्या हेतुमाला खड़ी की गयी कि [१]बलदेवरूप होनेसे [२]शेषरूप, शेषरूप होनेसे [३]संकर्षणव्यूहरूप अथवा तो [४]गणितानन्द-अक्षरब्रह्मरूप, यों गणितानन्द-अक्षरब्रह्म होनेसे [५]प्रमाणरूप और प्रमाणरूप होनेसे अन्तमें श्रीगोपीनाथजी [६]मर्यादारूप हैं!

इसमें, परन्तु, लक्ष्यमें रखने लायक तथ्य यहां यह है कि इन सारे रूपोंमें महाप्रभुने सिद्धान्ततः कहीं भी न तो समव्याप्ति स्वीकारी है और न विषमव्याप्ति ही. अतः यह हेतुमाला ही सर्वथा लचर है. क्योंकि देवकीस्तुतिकी सुबोधिनीमें "[सुबो]सर्वमेव व्यक्तम् अव्यक्ते प्रविष्टं... अक्षरं पुरुषोत्तमे, पुरुषोत्तमाभिन्ने वा अक्षरे [टिप्प]पुरुषोत्तमाभिन्ने इति पुरुषोत्तमचरणात्मके इति अर्थः" (सुबो.टिप्प.१०।२।२५) यों स्वयं अक्षरब्रह्मके भी जब दो रूप गणितानन्दक और अगणितानन्दात्मक सिद्धान्ततः अभिमत हों तो सारी हेतुमाला ही सोपाधिक सिद्ध हो जाती है. अन्यथा पूर्णपुरुषोत्तमके चरणारविन्द भी गणितानन्दरूप होनेसे

पूर्णपुरुषोत्तम भी ''आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि सर्वत्र च विविधभेदविवर्जितात्मा'' (त.दी.नि.१।४४) निरूपण वदतोव्याघात दोषसे ग्रस्त होगा.

तद्यथा [१]बलदेवजी होना केवल शेषरूप होना ही नहीं है अवतारी पूर्णपुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके अवतार होना भी है ''[भाग]एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयं, [सुबो]पुंसो नारायणस्य ब्रह्माण्डमूर्तेः अंशाः कलाः'' (भाग.सुबो.१।३।२८) यों स्वयं भगवान्के चौबीस अवतारोंमें एक १९वां या २२वां अवतार होना भी है ही. भूलना नहीं चाहिये कि नारायणको महाप्रभुने गणितानन्द न मान कर प्रकटानन्दरूप स्वीकारा है ''अन्तर्याम्यक्षरं कृष्ण इति यथा सारथी रथी तदन्तःस्थितः च तथा अन्तर्यामी अक्षरं कृष्णः. एवं सति पुरुषोत्तमत्वेन सर्वत्र दर्शनं भवति. परब्रह्मैव त्रिप्रकारेण वर्तते इति त्रयो भेदाः'' (त.दी.नि.२।१२१). भागवतद्वितीयस्कन्धमें भी ब्रह्माजी द्वारा की गयी भगवदवतारस्तुतिकी सुबोधिनीमें ''प्रकटः परमानन्दो यदा भूमेः तदैव हि मर्दनक्लेशहानिः स्यादिति आनन्दः समागतः... संहाररूपतामसशक्त्या सितकृष्णरूपस्य संकर्षणस्य कलया कृष्णकेशरूपेणापि... तस्माद् मर्दनक्लेशाभावार्थं साक्षाद् आनन्दमयः, पुत्रत्वेन वंशजननार्थं प्रद्युम्नः, धर्मरक्षार्थम् अनिरुद्धो नारायणांशो, भूमिभारहरणार्थं सितकृष्णक्लेशांशः... तेन एकरूपेणैव चतुर्मूर्तेरपि चरित्रं निरूप्यते... एवं चतुर्मूतिः भगवान् जातः'' (सुबो.२।७।२६) इस प्रतिपादनमें देखा जा सकता है कि ''यत्र बलदेवत्वं तत्र संकर्षणत्वम्'' या ''यत्र संकर्षणत्वं तत्र बलदेवत्वं'' व्याप्तिनियम भंग हो रहे हैं.

यही स्थिति ट्टशेषरूप होनेसे संकषर्णव्यूहरूप या गणितानन्द-अक्षरब्रह्म होनेके नियमकी भी देखी जा सकती हैं. स्वयं महाप्रभुके शब्दोंमें ''ट्टसुबो.भगवदवतरणात् पूर्वमेव सेवासाधनार्थं भगवच्छय्यारूपस्य शेषस्य संकर्षणसहितस्य अवतारम् आह 'वासुदेवकलानन्तः सहस्रवदनः स्वराट् अग्रतो भविता देवो हरेः प्रियचिकीर्षया' ट्टटिप्प...अत्र पूर्वं शय्यारूपे संकर्षणे शयानस्य अवतारदशापन्ने तस्मिन् आवेशरूपा स्थितिः अनुशयनं

भवति. तथाच अनुशयनस्यैव स्कन्धार्थत्वाद् बलदेवाविष्टवासुदेवकलायाएव लीलाः... तर्हि बलदेवे एवं निरूपणे किं तात्पर्यं तद् आह... पूर्वोक्तवासुदेवस्य अंशत्वाद् अंशांशिनोः च तादात्म्येन अभेदाद् एकवदेव प्रोच्यते'' (सुबो.टिप्प.१०।१।२४) यहां ''शेषत्वात् संकर्षणत्वं'' व्याप्तिनियमके बजाय शेष और संकर्षण का बलदेवमें समुच्चय दरसाया गया है. वासुदेवव्यूह और संकर्षणव्यूह के बीच तादात्म्यरूप अभेदका प्रतिपादन और चारों व्यूहोंके साथ दशमस्कन्धार्थरूप अनुशयनलीलाविहारी पुरुषोत्तमका निरूपण अभिप्रेत है. अतः शेषरूप होनेसे संकर्षणव्यूहरूप होनेमें ''तत्सत्त्वे सति तत्सत्त्वं'' की तार्किक कठोरता सिद्ध नहीं हो पाती.

इसी तरह [३]संकर्षणव्यूहरूप अथवा गणितानन्द-अक्षरब्रह्म होनेसे प्रमाणरूप होनेके कारण हेतु-साध्यभावरूप व्याप्ति भी सिद्ध नहीं होती है. क्योंकि महाप्रभुने तृतीयस्कन्धकी सुबोधिनीमें प्रमाणरूपता कैसे और कब आती है उसकी सूक्ष्म विवेचना की है ''आश्रयरूपम् मुख्यम् अविकृतं सर्वोपास्यं सर्वात्मभूतं च. तदेव प्रकाशकधर्मरूपेण आविर्भूतम् अविकृतमेव भगवद्गुणत्वेन उच्यते. तदेव पुनः सृष्टचर्थं वेदशरीरं गृह्णाति तदपि रूपं विराडिव अनन्तम्. पश्चाद् बीजतामपि आपद्यते शरीरविशिष्टं तदा व्यष्टयइव सर्वे शब्दाः भवन्ति'' (सुबो.३।४।१) यहां सावधानतया यह ध्यानमें रखना आवश्यक है कि समष्टिरूपेण वेदकी व्यष्टिरूपा श्रुतिरूपा गोपीजन यदि मर्यादारूप न मानी जाती हों तो समष्टिरूप वेदरूप प्रमाणरूप बलदेवजी कैसे मर्यादारूप होंगे? और बलदेवका भी मर्यादारूप होना तार्किक नियति न हो तो बलदेवरूप होनेसे श्रीगोपीनाथजी कैसे मर्यादारूप नियमेन कहे जा सकते हैं! श्रुतिरूपा गोपीजन भी प्रमाणशक्तिरूपा हैं, जैसे ऋषिरूपा गोपीजन क्रियाशक्तिरूपा हैं. वेद, महाप्रभुके अनुसार, ''स्वरूपे तु त्रयो भेदाः क्रियाज्ञानविभेदतः विशिष्टेन स्वरूपेण क्रियाज्ञानवतो हरेः. विशिष्टे वाचकं गीता श्रीभागवतमेव च केवले काण्डद्वितयं वेदो धर्मप्रवेशतः. ननु काण्डद्वयेऽपि क्रियाज्ञानं प्रतिपाद्यते नतु क्रियावान् ज्ञानवान् वा. तत् कथम् उच्यते एकैकस्मिन्

अंशे एकैकं काण्डम् इति तत्र आह 'धर्मप्रवेशतः' क्रियावान् क्रियायां प्रविष्टो अतः क्रियैव प्रतीयते. वस्तुतस्तु क्रियावान्. 'यज्ञो वै विष्णुः' इति श्रुतेः'' (त.दी.नि.२।९०) क्रियाशक्ति=साधनशक्तिरूपा निजवेणुद्वारा रासार्थ समाहूत कुमारिका गोपिका थी. ज्ञानशक्तिरूपा=प्रमाणशक्तिरूपा श्रुतिरूपा गोपिका भी ये दोनों प्रकारकी गोपिकायें पुष्टिलीलाका परिकर होनेसे पुष्टिरूपा थी. इनकी समष्टि वेद माने गये हैं तो 'अंशांशिनोः तादात्म्याद् अभेदः'न्यायेन वेद भी स्वयं केवल मर्यादारूप नहीं किन्तु भगवज्ज्ञानरूप होनेके पुरुषोत्तमरूप भी होता है. ऐसी सिद्धान्तमर्यादा होनेसे वेदरूप होनेसे बलदेवजी मर्यादारूप कैसे सिद्ध हो पायेंगे? स्वयं श्रीनाथस्वरूपभावनाके अनुसार दक्षिणचरण और दक्षिणहस्त मर्यादारूप और वामचरण और वामहस्त पुष्टिरूप होनेके रूपमें स्वीकारे जाते हों तो स्नानयात्रामें श्रीजीके प्रसादी चरणामृतमें दक्षिणहस्तचरणोदक ''काहु पुष्टिमार्गीयिकों नाहि लेनो'' विधान सम्भव है? यदि नहीं तो ''श्रीगोपीनाथजी यद्यपि श्रीगुसांईजीके बड़े भाई हें परन्तु काहु वैष्णवने चरणोदक नाहि लियो'', ''[वा.]तब श्रीगुसांईजी आपु श्रीगोपीनाथजी के सेव्य श्रीमदनमोहनजी कों देके कहे, जो इनकी सेवा तुम करो. सो तब बंगाली श्रीमदनमोहनजीकों लेके श्रीवृन्दावनमें आयके सेवा करन लागे [भा.प्र.]सो काहेते? जो बलदेवजी मर्यादारुपा सो तिन के सेव्य ठाकुर हू मर्यादारुपा सो बंगालीन को मर्यादा की पूजा है. तासों दिये''. (८४ वै.वा.१।५, वहीं ८४।२).

अन्तमें [५]प्रमाणरूप होनेसे श्रीगोपीनाथजी [६]मर्यादारूप हैं, इस व्याप्त्याभासका भी विमर्श आवश्यक है.

अमरकोषकी रामाश्रमी व्याख्याके अनुसार ''मर्यादा='मर्या'इति सीमार्थे अव्ययं तत्र दीयते इति... 'मर्यादा' न्याय्यपथस्थिते'' (अम.को.रामा.२।२६) अब श्रीगोपीनाथजी मर्यादारूप हैं कहनेका अभिधावृत्तिसे अर्थ तो इतना ही होगा कि श्रीगोपीनाथजी न्याय्यपथपर अवस्थित हैं! अब गौणी या लक्षणा या तात्पर्य वृत्तियोंका अवलम्बन कर जो वेदादिशास्त्रप्रमाणित

न्याय्य पथ है वह गणितानन्दप्रदायक होता है और इन वेदादिशास्त्रोंके प्रमेयरूप पुरुषोत्तम कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ होनेके कारण अपने पुष्टिपथसे अगणितानन्दप्रदायक होते हैं, ऐसी छटकबारी खोजी तो जा सकती है परन्तु उसमें सर्वाधिक बाधक होगा पुष्टिपथकी प्रमाणिकताका साधक वचन ''नायम् आत्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया बहुना श्रुतेन यमेव एष वृणुते तेन लभ्यः तस्य एष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्'' (कठोपनि.१।२।२३) क्योंकि या तो इस वचनके आधारपर पुष्टिमार्ग सिद्ध होता माननेपर पुष्टिमार्गको भी गणितानन्दप्रदायक स्वीकारना पड़ेगा अन्यथा प्रमेयबलके आधारपर तो पुष्टिमार्ग पुष्टिप्रभुके अवतारकालमें ही सिद्ध होगा अनवतारकालमें तो शक्यता ही नहीं रह जायेगी. यह तो पुत्रप्राप्तिकी दुराशामें पतिके बलिदानकी कथा हो गयी.

यदि अन्य कुछ महाप्रभुके वचनोंके आधारपर भी इसका निर्धारण अपेक्षित माना जाये क्योंकि केवल ''वासुदेवकलानन्तः सहस्रवदनः स्वराड् अग्रतो भविता देवो हरेः प्रियचिकीर्षया'' (भाग.१०।१।२४) की सुबोधिनीमें ही ''तं संकर्षणम् अन्यस्माद् भिन्नतया ज्ञातुं विशिनष्टि 'वासुदेव' इति वासुदेवस्य प्रथमतः 'कला' धर्मरूपः. सोऽपि शयनरूपइति 'अनन्तः' कालात्मा. सहि स्वाश्रयएव शेते. तत्र आधिदैविकरूपमपि स्थितम् इति ज्ञापयितुं आह 'सहस्रवदनः' इति. संकर्षणो हि सहस्रवदनो वेदात्मा. शेषोऽपि केवलः तथा भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थम् आह 'स्वराड्' इति''(सुबो.१०।१।२४) यह जैसे कहा गया है वैसे ही ''सप्तमो वैष्णवं धाम यम् अनन्तं प्रचक्षते''(भाग.१०।२।५) की सुबोधिनीमें ''सप्तमो धर्मी च तदाधारभूतः पुरुषोत्तमस्तु ततो महान् अतः तद्व्यावृत्त्यर्थं 'धाम'इति''(सुबो.१०।२।५) भी विधान मिलता ही है अतः पुरुषोत्तमसे तुलनात्मक दृष्टचा कुछ न कुछ अल्पता माननी ही पड़ेगी. सो वह जैसे बलदेव और श्रीकृष्ण के बीच सिद्धान्ततः मान्य है उसका अतिदेश श्रीगोपीनाथजी और श्रीविट्ठलनाथजी के बीच रहे तारतम्यमें खोजना जरूरी होगा ही. और यहां आकर पुनः घट्टकुटिप्रभातन्यायेन श्रीगोपीनाथजी

गणितानन्दक और श्रीविट्ठलनाथजी अगणितानन्दात्मक अकामेन गलेपतित हो जायेंगे. इस तरहकी आशंकामें सर्वप्रथम दोष तो पुरुषोत्तम और अक्षर की उत्तमता और तदपेक्षया न्यूनता का बावेला तब गंभीर माना जा सकता जब ये दोनों एकदूजेसे पृथक्तया अवस्थित होते सर्वनिर्णयमें महाप्रभुने दोनोंकी अवस्थितिके बारेमें यह सुस्पष्टता कर रखी है कि ''[नि.]प्रकृतिपुरुषश्चोभौ परमात्माऽभवत् पुरा यद्रूपं समधिष्ठाय तद् अक्षरम् उदीर्यते [प्रका.]भगवान् यदा येन रूपेण कार्यं कर्तुम् इच्छति तद्रूपमेव व्यापारयति. तत्र ज्ञानेन मोक्षो देयः इति यदा विचारयति तदा अक्षरमेव ब्रह्मस्वरूपम्'' (त.दी.नि.२।९८) तो क्या श्रीगोपीनाथजीके साधनदीपिका और सेवाभावश्लोकाः देख कर यह कहा जा सकता है उन्होंने ज्ञानसे पुष्टिजीवोंको मुक्ति देनी चाही थी? कोई घांस खानेवाला ही ऐसा सोच पायेगा! यह भी तब कि जब अक्षरब्रह्मके बारेमें महाप्रभुने घण्टाघोषपूर्वक यह कह दिया है ''तथापि न पुरुषोत्तमाद् भिन्नतया अवस्थितः किन्तु निरन्तरएव... मूलेन पुरुषोत्तमेन सह अविच्छिन्नतया तिष्ठति नतु कार्यत्वेन... एषा स्थितिः सर्वदा'' (त.दी.नि.२।९८-१०१) अब यदि श्रीगोपीनाथजीको यदि गणितानन्दक अक्षरब्रह्म ही मान लें तब भी श्रीविट्ठलनाथजीसे अभिन्नतया निरन्तरतया अविच्छिन्नतया स्वीकारने पर इनका चरणोदक लिया नहीं जा सकता पर गुसांईजी और उनके अद्यावधिपर्यन्त हम आसुरावेशी वंशजोंके चरणोदक लिये जा सकते हैं. हमारे द्वारा अगड़ंबगड़ं पुष्ट किये भगवद्विग्रह पुष्टिरूप और श्रीगुसांईजीसे अविच्छिन्नतया अवस्थित श्रीगोपीनाथजीके सेव्यस्वरूप मर्यादारूप! धिक्कार है श्रीवल्लभके ज्येष्ठात्मजके लिये ऐसे जघन्यभाववाले पुष्टिमार्गीयोंको. अतः मर्यादाका अर्थ वैसे तो गणितानन्द शब्दमर्यादासे तो नहीं निकल सकता पर तात्पर्यानुरोधवश खींचतान कर निकलना भी हो तो वह उपपन्न नहीं होगा.

इन सारे मुद्दोंको स्पष्ट करनेके लिये प्रस्तुत 'पुष्टिमार्गकी आचार्यत्रयी' ग्रन्थ प्रकाशित करना स्मयापह श्रीवल्लभके प्रति निष्ठावश अपरिहार्य

लगता है. आशा है कि इसके अवलोकनसे सारी असम्भावना और विपरीतभावनाओं का निवारण हो पायेगा.

अन्तमें औपसंहारिक वक्तव्यतया यही कहना चाहूंगा कि पुष्टिमार्गमें श्रीगोपीनाथजीको प्रमाणरूप भी माना जाये एतावता केवल मर्यादारूपता कथमपि सिद्ध नहीं हो सकती जैसे श्रीविट्ठलनाथजीको केवल प्रमेयरूप मान लेनेपर भी केवल पुष्टिरूपता सिद्ध हो नहीं सकती है. श्रीगोवर्धननाथजीके दक्षिण-वाम श्रीहस्त चरणकमलकी तरह दोनों आत्मज महाप्रभुके दक्षिण-वामभाग हो सकते हैं महाप्रभुसे अपृथक्तया अभिन्नतया निरन्तरतया अवस्थित! जैसा कि सुबोधिनीमें आचार्यचरण विधान करते हैं :

> ''भगवच्छास्त्रे भगवानेव प्रमाणादिचतुष्टयम्. भगवत्साक्षात्कारः साक्षात्कृतो वा भगवान् प्रमाणम्... दर्शनं प्रमाणम् आविर्भावः प्रमेयम् इति... सएव भगवान् साधनं... प्रसंगात् तच्चरित्रं फलरूपम्''.
>
> (सुबो.१०।२।३८-४१).

कृतज्ञताज्ञापन

इस पुस्तकके सम्पादनार्थ श्रीमती-श्री पद्मिनी धर्मेन्द्र झाला, श्रीमती-श्री मनीषा परेश शाह, श्रीअनिल भाटिया, श्रीजगदीश शेठ और मुद्रणोपयोगी कार्यके लिये श्रीप्रवीण डढ़ाणिया, श्रीपीयूष गोंधिया का सहयोग एवं श्रीमती शोभाबेन भाटियाका आर्थिक सहयोग भी अविस्मरणीय है.

दिनांक २जून २०१९ गोस्वामी श्याम मनोहर
मुंबई

विषयानुक्रमणिका

विषयः	पृष्ठः
१. श्रीगोपीनाथप्रभुचरणाचार्यत्वसंशयध्वंसविवाद	१-१९
२. श्रीगोपीनाथप्रभुचरणाचार्यत्वसंशयध्वंसवादः...	२०-५३
३. परिशिष्ट-१. आचार्यरत्न श्रीविट्ठलेश तथा हमारा संप्रदाय...	५४-७०
४. परिशिष्ट-२. प्रभुचरण श्रीविट्ठलनाथ और अणुभाष्य...	७१-१०७
५. असौत्रशंकानिरासवादः...	१०८-११२
६. उद्धृतवचनानुक्रमणिका...	११३-११८
७. परिशिष्ट-३. श्रीगोपीनाथजीका श्रीजगन्नाथपुरिकी यात्राका ताड़पत्र	११९-१२०

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥ श्रीगोपीनाथप्रभुचरणाचार्यत्वसंशयध्वंसविवाद ॥

जूनागढ़सु चि.रविबावाने फेसबुकमें मेरे श्रीगोपीनाथजी पुष्टिमार्गके मूल तीन आचार्यन्मेंसु एक मानवेके मुद्दापे उठायी गयी आपत्तिन्कुं फॉरवर्ड करि वामें मेरे द्वारा दिये गये समाधान और चि.अनुरागबावा द्वारा किये गये अनर्गल प्रलापन्को सिलसिला जो चल्यो वाकु यहां लिपिबद्ध कियो जा रह्यो हे. या विवादके प्रारम्भमें एक संस्कृत लघुलेखकी व्रजभाषामें अवतरणिका यों दी गयी : ''पुष्टिमार्गके मूलगुरु श्रीमहाप्रभुजी और गुसांईजी हें या बातकु सप्रमाण प्रतिपादित कर कालेमुखकु मनोहर कियो हे. जाकु सम्प्रदायके पण्डित जन विचारें. यदि कोई प्रतिवाद हे तो वाकु प्रस्तुत करें मुखध्वंस प्रत्युत्तरमें मिलेगो''. वैसे तो यह धारणा इदम्प्रथमतया मैंने ही प्रस्तुत करी होय ऐसी तो कोई बात हती नहीं. जा कारण ऐसी गालीगलौचवाली चर्चा आवश्यक होती. मेरेसुं पहले भी अन्यान्य विद्वानन्ने भी ऐसे ही स्वीकार्यो हे. फिरभी गालीगलौच कोईकु को अपनो पुश्तैनी एकाधिकार लगतो होय तो वैसी भ्रान्ति या मिथ्याभिमानकु दूर करवेकेलिये गालीगलौचके साथ भी विचार नहीं कियो जा सके ऐसे सज्जनताके मिथ्या प्रदर्शनकी कोई लाचारी भी नहीं हे. 'पिशाचेन पिशाचभाषयैव वादः कर्तव्यः' न्यायसुं ये विवाद प्रवृत्त भयो, पर वाकुं दृष्टिबहिर्भूत रखके तथ्यातथ्यके विमर्शार्थ जसको तस यहां मुद्रित कियो जा रह्यो हे.

(तीन पृष्ठकी ज़ेरोक्स प्रतिलिपि पादटिप्पणीके साथ).

यापे ये जिज्ञासा प्रकट की गयी :

रंगे ते रमतां दीठँडा
बलदेव श्रीगोविंद ।।
ते पुत्रभावे प्रकटशे,
मन उपन्यो आनन्द ।।२३।।
बलदेव श्रीगोपीनाथ कहीये,
श्रीविट्ठल नन्दानन्द ।।
ते वेदपंथ विस्तारशे,
जन आपशे आनन्द ।।२४।।

(व्रजाभरणीया)

तदनंतर द्वितीय रास बसंतको रास. ता विषे रंगसो रमण करत हें. एसें बलदेव तथा श्रीगोविंद देखे. ये दोउ पुत्रभावसों प्रगट होइंगें, यह जाने, तब मनमें अति आनंद उत्पन्न भयो. बलदेवजी सौ प्रमाणरूप मर्यादारक्षक वयक्रमसों बड़े. तेंसें गोपीनाथजीकों भक्तिमार्गकी मर्यादाके रक्षक ज्येष्ठभ्राता कहेंगे, श्रीविट्ठलकों नंदनंदन कहेंगे. ये श्रीगोपीनाथ तथा श्रीविट्ठलनाथजी वेदमार्गको विस्तार करेंगे. जन आपुने तिनकों आनंद देहिंगे. वर्णाश्रमधर्मसहित स्वस्वरूपानंददान करेंगे ।।२३-२४।।

(भावदीपिका)

रंगे इति, तत्र बलदेवो गोविन्दः च स्वानन्देन क्रीडां कुर्वन्तौ श्रीवल्लभेन दृष्टौ. पश्चात् तन्मनसि आह्लादो जातः. केन हेतुना ? तत्र आह : एतौ मम गृहे पुत्रभावेन भावात्मकरूपेण भविष्यतः. तौच संयोग-विप्रयोगरूपौ ज्ञेयौ. ज्येष्ठस्य विप्रयोगरूपत्वं श्रीवल्लभप्रतिनिधित्वेन तदग्रिमव्याख्याने स्फुटं भविष्यति. **बलदेव** इति. मूले **कहिये** इति पदेन श्रीगोपीनाथस्तु बलदेवरूपः इति कथनमात्रं नतु साक्षाद् बलदेवरूपः. कस्माद् ? गुर्जरदेशे यत्र वास्तविकत्वं नास्ति तत्र 'कहिये' शब्दस्य कथनम्. तस्माद् वास्तविको अर्थो अयं नतु युक्तितः. यतः श्रीबलदेवस्तु पुरुषोत्तमस्य प्रमाणरूपः शेषावतारत्वात्. **''शेषनागो भवेद् रामः''** (कृष्णोप.१२) इति कृष्णोपनिषदि **''शेषं च मत्कलां सूक्ष्माम्''** (भाग.पुरा.८।४।२०)

कोलपर्दितापानवायुसमीरितशब्दोद्गारिमुखस्
यानुरागस्य मुखमुद्रणमुद्गरतया

इत्यादिवाक्यात्. **''ब्रह्मा भवो अहमपि यस्य कलाः कलायाः''** (भाग.पुर.१०।६८।३७) इति दशमस्कन्धोत्तरार्द्धे बलदेवेन स्वेनैव स्व-स्वरूपकथनात्. एतेन बलदेवस्य कलाकलारूपत्वम्. अत्रतु श्रीगोपीनाथस्य न कलाकलारूपत्वम्. यदा बलदेवत्वेन प्रतिपाद्येत तदा श्रीगोपीनाथे कलाकलारूपत्वम् आपद्येत. तस्मात् श्रीगोपीनाथस्तु श्रीवल्लभरूपएव. श्रीवल्लभपुत्रत्वात्. अतएव **''श्रीवल्लभप्रतिनिधिं तेजोराशिं दयार्णवं गुणातीतं गुणनिधिं श्रीगोपीनाथम् आश्रये''** (अणु.भा.प्रका.१।१।१) इति श्रीपुरुषोत्तमचरणैः भाष्यप्रकाशे, **''गुणनिधि श्रीगोपीनाथजू निर्गुण तेजनिधान''**(धमार बिलावल-१) इति श्रीमाणिकचन्देन उक्तम्. पुनः तत्रैव **''बालक सब ब्रह्म जानिके''** (तत्रैव-७) इति. **''स्ववंशे स्थापिताशेषस्वमहात्म्यः स्मयापहः''** (सर्वो.स्तो. २२) इति वाक्यात्. **''''आत्मा वै पुत्रः उत्पन्नः' इति वेदानुशासनं स एष भगवान् द्रोणः प्रजारूपेण वर्तते''** (भाग.पुरा.१।७।४५). तथाच वेदे **''अंगाद् अंगात् सम्भवसि हृदयाद् अभिजायसे आत्मा वै पुत्रनामा असि स जीव शरदः शतम्''** (शतप.ब्राह्म.१४।९।४) इत्यादिवचनाद् न कोऽपि शंकालेशः. किञ्च **''सुखदाता लघुभ्रातनाँ पूरणपुरुष प्रमाण''** (वल्लभा.९) इति वक्ष्यमाणवाक्यविरोधात् च. ननु यदि एवं चेत् तर्हि प्राचीनैः सर्वैः किं ग्रहिलतया उक्तम्? इति चेद् उच्यते आन्तरालिकैः प्राचीनैः प्रसिद्धमात्रेण उक्तम्. नतु मूलस्थानुभावकैः आचार्यसेवकैः सर्वसिद्धान्तनिर्णायकैः श्रीपुरुषोत्तमचरणैः च. यथा श्रीमदाचार्यचरणैरपि प्रसिद्धमात्रेण प्रक्षिप्ताध्याय-त्रयस्य विवरणं कृतम् इति टिपण्याम् उक्तम्. तेन कृत्वा किं भागवताध्यायाः भविष्यन्ति. श्रीविट्ठलस्तु नन्दनन्दनएव. इमौ वेदमार्गं पुष्टिमार्गं विस्तरयिष्यतः. पुनः स्वकीयजनानाम् आनन्दं दास्यतः ॥२३-२४॥

त्यांथी केशिघाट पांउ धारिया,
कही कथा तत्त्वसमाधि॥
रसपुंज पुरुषोत्तम प्रमाण्या,

ए विना बीजुं सर्वे बादलुं चौदलोकनो शणगार रे रसना ॥२॥

(व्रजाभरणीया)

या कलिमें सबन्के कारण हू आपुही हें, लीलाकर्ता. जे एक ही हें ओर सब लोक भूमिके भार हें. इन बिना ओर सब बादलुं हे मूंडिके केसरहित बिधवास्त्रीवत् सौभाग्यहीन. जे चौदहलोकमें सिंगार हे सौभाग्यरूप सब (भाव)भक्तन्कों ॥२॥

(भावदीपिका)

कलि इति कलिमध्ये श्रीवल्लभएव कारणम् उद्धारे. अन्येतु सर्वे भूमिभाररूपाः श्रीवल्लभं विना सर्वे पदार्थाः अशोभारूपाः जाताः. यतः चतुर्दशानां लोकानां स्वयं शृंगाररूपो न अन्ये ॥२॥

'गोपीनाथजी' सोहामणा मरकतमणिघनवान /(नवजलघन-तनु भाण) रे रसना ॥
सुखदाता लघु भ्रातना पूरण पुरुष प्रमाण रे रसना ॥३॥

(व्रजाभरणीया)

श्रीवल्लभदेवको नाम प्रथम ग्रहण करि तदनंतर परिवारको. प्रथमपुत्र ज्येष्ठ श्रीगोपीनाथजी सुंदर रसरूप नवीन जलसहित मेघ तद्वत् श्याम तनु देहको वर्ण. सुखदाता छोटे भ्रातके. पूरणपुरुष परंतु प्रमाणमार्ग स्थापन अथवा तिनके पुत्र (पूर्णपुरुष) पुरुषोत्तम जे वेदमार्गके स्थापक तातें ज्येष्ठ सर्वक्षेष्ठ ॥३॥

(भावदीपिका)

श्रीगोपीनाथ इति, मरकतमणाविव घनो, घनत्वं गाढगाम्भीर्यम् अस्मिन् अस्तीति **मरकतमणिघनवान्** 'घन'शब्दो अत्र अर्थवशाद् धर्मवाची ज्ञातव्यः. अथवा मरकतमणिश्च घनश्च मरकतमणिघनौ तयोः धर्म्मौ कान्तिगाम्भीर्ये स्तो अस्मिन् सो मरकतमणिघनवान् एतस्मिन् समासे उभावपि अर्थवशाद् धर्मवाचिनौ बोध्यौ. ''अर्थवशात् पदानां व्यवस्था'' इति ''**सत्त्वं न**

ए विना बीजुं सर्वे बादलुं चौदलोकनो शणगार रे रसना ॥२॥

(व्रजाभरणीया)

या कलिमें सबनके कारण हू आपुही हें, लीलाकर्ता. जे एक ही हें ओर सब लोक भूमिके भार हें. इन बिना ओर सब बादलुं हे मूंडिके केसरहित बिधवास्त्रीवत् सौभाग्यहीन. जे चौदहलोकमें सिंगार हे सौभाग्यरूप सब (भाव)भक्तनकों ॥२॥

(भावदीपिका)

कलि इति कलिमध्ये श्रीवल्लभएव कारणम् उद्धारे. अन्येतु सर्वे भूमिभाररूपाः श्रीवल्लभं विना सर्वे पदार्थाः अशोभारूपाः जाताः. यतः चतुर्दशानां लोकानां स्वयं शृंगाररूपो न अन्ये ॥२॥

'गोपीनाथजी' सोहामणा मरकतमणिघनवान /(नवजलघन-तनु भाण) रे रसना ॥
सुखदाता लघु भ्रातना पूरण पुरुष प्रमाण रे रसना ॥३॥

(व्रजाभरणीया)

श्रीवल्लभदेवको नाम प्रथम ग्रहण करि तदनंतर परिवारको. प्रथमपुत्र ज्येष्ठ श्रीगोपीनाथजी सुंदर रसरूप नवीन जलसहित मेघ तद्वत् श्याम तनु देहको वर्ण. सुखदाता छोटे भ्रातके. पूरणपुरुष परंतु प्रमाणमार्ग स्थापन अथवा तिनके पुत्र (पूर्णपुरुष) पुरुषोत्तम जे वेदमार्गके स्थापक तातें ज्येष्ठ सर्वक्षेष्ठ ॥३॥

(भावदीपिका)

श्रीगोपीनाथ इति, मरकतमणाविव घनो, घनत्वं गाढगाम्भीर्यम् अस्मिन् अस्तीति **मरकतमणिघनवान्** 'घन'शब्दो अत्र अर्थवशाद् धर्मवाची ज्ञातव्यः. अथवा मरकतमणिश्च घनश्च मरकतमणिघनौ तयोः धर्म्मौ कान्तिगाम्भीर्ये स्तो अस्मिन् सो मरकतमणिघनवान् एतस्मिन् समासे उभावपि अर्थवशाद् धर्मवाचिनौ बोध्यौ. ''अर्थवशात् पदानां व्यवस्था'' इति ''**सत्त्वं न**

चि.अनुरागरायजी : अपिच कस्य इयं टीका? किं प्रस्तूयते शिथिलमेव विचारय. पुनरपि अस्माभिः यद् लिखितं तद् व्याकरणदिशा अत्र प्रमाणसहितमेव विराजते सद्वैष्णव-मोदावहमेव नतु तव कृते. हमने इसमें व्याकरण एवं पुराण तथा श्रीगोकुलनाथजी श्रीहरिरायजी तथा श्रीयोगी गोपेश्वरजी श्रीगोपालदासजी नारायणदासजी एवं श्रीपुरुषोत्तमजी इत्यादिके प्रमाण प्रस्तुत किये हें जिसको केवल सच्चा पण्डित ही समझ सकता है. अधूरा और कृपारहित जन नहीं.

गोस्वामी श्या.म. : वही बात श्रीव्रजरायजी महाराज भी श्रीपुरुषोत्तमजी आदि प्राचीन व्याख्याकारन्की दुहाई दे के केह रहे हें. इनकी व्याख्याको प्रामाण्य विद्वद्वरेण्य गट्टुलालाजी आदि प्राचीन विद्वानन्की सम्मतिके साथ हे. पूरी पढ़े बिना बकवाद करवेकी मूढ़ता चि.अनुरागबावाको पुश्तैनी स्वभाव लगे हे. ये व्रजरायजी अहमदावादके नि.ली. नटवरगोपालजीके पितामह श्रीमधुसूदनलालजीसुं भी पेहले भये. रही बात व्याकरण-पुराणके आधारकी तो वो तो चि.अनुराग स्वयं स्वीकार चुक्यो हे कि पुष्टिमार्गीय तत्त्व अलौकिक होवेसुं श्रौत-स्मार्त धर्मशास्त्रको विषय नहीं. अरे मूढ़मति!, तो व्याकरणको विषय कैसे हो पावेगो?

चि.अनुरागरायजी : क्या शिक्षापत्र अप्रामाणिक हे? क्या श्रीहरिरायजीप्रणीत १०८ नाम श्रीमहाप्रभुजीके अप्रामाणिक? क्या पुराण अप्रमाणिक? प्राचीन आप जिनकुं कहो हो उनसू भी प्राचीन व प्रामाणिक जिनकुं आप भी मानो हो ऐसे श्रीगोकुलेश प्रभु इत्यादि प्रामाणिक नहीं

हें? क्या वार्तासाहित्य अप्रामाणिक हे? हद हे अकल काम नहीं कर रही हे इनकी. आपकु यदि प्राचीनतें अर्वाचीन प्रामाणिक लगें तो आपकु मुबारक. हम तथा सच्चे पुष्टिमार्गीय वैष्णवगण ऐसी बहलानेवाली बातनमें नहीं आयेंगे. यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किं! लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पण: किं करिष्यति?. श्रीहरिरायजी श्रीगोकुलेश प्रभु इत्यादिसे विरुद्ध बात किसीकी भी हो अप्रामाणिक व उपहासास्पद एवं हेय हे. इस पुष्टिमार्गके गुरु श्रीमहाप्रभुजी और गुसांईजी के अतिरिक्त कोई नहीं.

गोस्वामी श्या.म. : श्रीव्रजरायजी भी प्राचीन गोकुलनाथजी हरिरायजी पुरुषोत्तमजी और कीर्तन आदि प्रामाणिक भाषासाहित्यके वचनन्के आधारपर ही केह रहे हें. और मूढ़मति चि.अनुरागबावाके अनर्गल प्रलापके बजाय हम बड़ेनके वाल्लभ सिद्धान्तावलम्बी वचनन्कुं अधिक विश्वसनीय समझे हें. रही वार्तासाहित्यके प्रामाण्यकी चर्चा तो यह जड़बुद्धि अनुरागके प्रपितामह नि.ली.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्रीने नड़ियाद-केसकी जुबानीमें वार्तासाहित्यको सर्वांशमें प्रामाण्य इन्कार कियो हे. सो वो बराबर जांच कर ले. वाके बाद कोलापानवायुसमीरिशब्दोद्गारिमुखचापल्य प्रकट करे तो माजना नहीं बिगड़ेंगे.

चि.अनुरागरायजी : (रविबावाकु)यह हम जानते हें कि जो आपकी स्वयंकी कोई उपज नहीं प्रत्युत कालेमनवारेको हरत हो याते आपके व्याजतें उनकुं ही कहत हें कि कोर्टमें सत्यासत्य दोउ चलत हें. जैसे आपहु अपसिद्धान्त कहत हो सो प्रकटित वार्तासाहित्यकु अप्रमाण अपने

जीवनमें जो माने सो तो तुम ही हो प्रोफेसरजी. पहले आप दूसरो जनम लेके वेद बोलनो प्रारम्भ करो. यामें केसतें श्रीहरिरायजी महाप्रभुजीकु कहा लेनोदेनो? ये तो तुम्हारो स्वार्थ हे याते अंटसंट बकत हो बकीपुत्रजी!.

गोस्वामी श्या.म. : पेहले तो मेरेमें स्वयंप्रज्ञा हे या नहीं याकी बात कर लें. सो जड़मति प्राज्ञमानीमें न तो पुष्टिप्रभुने पुष्टिको बीजभाव रोप्यो हे और न याकु पुष्टिसिद्धान्तको क ख ग भी आतो होय ऐसे लगे हे. क्योंकि पुष्टिमार्गकी नींव तो "न अयम् आत्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेव एष वृणुते तेन लभ्यः तस्य एष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्" शास्त्रवचनाश्रित हे, जिन शास्त्रनुकुं ये प्राज्ञमानी अहंकारविमूढात्मा "पुष्टिमार्गगुरुविषयाभावात्" ऐसी जड़मतिके कारण अप्रमाण मानवेकी बकभक्ति दिखावे हे.

महाप्रभूनुके ज्येष्ठात्मजकुं स्वयं महाप्रभूनुके द्वारा ब्रह्मसम्बन्ध मिल्यो होयवेपर भी मर्यादामार्गीय माननेवालो आसुरी जीव पुनः जिन गंगोज वैष्णवनुकुं ब्रह्मसम्बन्ध देतो होयगो उनकुं पुष्टिमार्गीय मानवेको मिथ्याभिमान रखतो ही होयगो. लानत हे उन लोगनुकुं जो ऐसेनकुं वल्लभवंशज मानते होंयगे. (पश्चाल्लेख : रही बात नि.ली.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्रीने वार्तासाहित्यको सर्वांशमें प्रामाण्य अमान्य जो कियो वो पुष्टिमार्गके तज्ज्ञ धर्माचार्यके रूपमें दी जुबानी हती. कोर्टमें सत्यासत्य चले हे, ऐसो बहाना तो लोगनुकुं बेवकूफ बनावेकी बात करवेवालो

ये मूढ़ प्रपौत्र अपने प्रपितामहकुं भी ''नास्ति सत्यात् परो धर्मः नानृतात् पातकं परं, स्थितिर्हि सत्यं धर्मस्य तस्मात् सत्यं न लोपयेत्'' (शान्तिपर्व १६२।२४) शास्त्रवचनके अनुरोधवश कहीं पातकी न मानतो होय! अहंकारविमूढ़ होवेसुं मानतो भी होय तो एक सम्भावना ये भी उजागर हो जावे हे के क्योंकि स्वयं ये लघुभ्राताको परिवार कोर्टमें खुदके बड़े भाईके परिवारसुं हक छीनवेके लिये ही केवल श्रीगोपीनाथजीके आचार्यत्वको भी अस्वीकार न करतो होय! कहीं कोर्टमें अपने दावाकी दादागिरी निभावेके लिये ही कहीं सत्यासत्यकी वक़ालत न करतो होय? धिक्कार हे ऐसी स्वार्थान्धताके वश धर्मकी बाबतमें भिथ्याभाषण करवेकी रीतिकुं!)

चि.अनुरागरायजी : अरे सामरेनके मनहरजी! मोकु तो तोपे हंसी आवे तोकुं अक्षर हु आंखिनतें ग्रहण करनो नहीं आवे हे! कहुं बताय के ऐसी काहूने कही होय तोकुं के मर्यादामार्गीय हें श्रीगोपीनाथचरण. ऐसी काहूने कही? बताय पेहेले याहीते नेक शान्तिसों बांच के हमने कहां कहीं? ''मर्यादाशब्दशब्दमर्यादाम् अर्थं च अज्ञात्वा'' इत्यादि नेक पढ़ या वृद्धावस्थामें अब कहां लग सुधारेगो अपनी जडमूलरहित मूढ़मतिकु रे! कृपारहित हे सो तो पूरे जगने जानि अब सुधर जा. श्रीमहाप्रभुजी श्रीगुसांईजी के अतिरिक्त पुष्टिमार्गको गुरु कोई नाहिने. और यदि तोकु यदि तेरे गुरुनकी संख्या बढ़ानी होय तो हम तुम्हारे गुरु हो सकते हें. काहेते जो सुन जो 'मर्यादा'शब्दते तुमकुं काय बातकी तकलीफ हे? हम तो कहत हें कि श्रीगोपीनाथजी पुष्टिमार्गके संरक्षक हें. और

या मारगके आचार्य श्रीगुसांईजीके अनुकूल काज करत हें. याहीतें तो कही कि ''सुखदाता लघुभ्रातनां पूरणपुरुष प्रमाण रे'' अतः ये तो स्वयं मर्यादा अवतार बलदेव हें, जोकि शेषस्वरूप अक्षरब्रह्मरूप हें. याहीतें मेरे प्रभुके प्रिय मेरेसू पूर्व जो आये और यहां गद्दी बिराजे, ऐसे श्रीपुरुषोत्तमचरणने कही 'तेजोराशिं' पर तू तो काहूको शिष्य होयवे लायक नहीं. सीधी सि बात कि तुमकुं हम शिष्य तो करेंगे नहि तोकू; परि या कुलको नाम लगे चल्यो जात हे पूजायवेकु, ताते यातें दयासों कहत हें कि तेने प्रमेयरत्नार्णव तो पढ़्यो होयगो न! पर लगे तोकू नहीं समझमें आयी. कोई बात नहीं तो बताऊं हूं देख वामें अक्षरब्रह्मको स्वरूप पूर्णपुरुषोत्तमसुं न्यून कह्यो हे कि नहीं? यातें ये मर्यादास्वरूप हे. अब समझ्यो ''गणितानन्दकं बृहत्'' समझे? याते 'मर्यादा' कही हे नकि मर्यादामार्गीय. अब बता मेरी जड़मति तो तेरी मतिमें हे पर तेरे तो मतिकी ही जड़ नाहिनें. सर्वप्रथम तो विभक्तिको ज्ञान तोकूं नहीं हे जो तेने प्रयोग कियो 'पशोरपि पशु' ऐसी कही. तेरे जीवनमें विसर्गको सर्ग ही नहि याहिते तेरे समजकी पराकाष्ठा दीसत हे. यहां समज तेरे समुदायके लिये हे 'कालमुख-धवलश्मश्रुधारि-वानर'.

गोस्वामी श्या.म. : ये कोलापानसमीरितशब्दोद्गारिमुख अहंकारविमूढ़ान्ध होवेसु सप्तसप्तपूर्वापरजन्मनूमें भी सिद्धान्तवचन पढ़वेमें और तत्प्रयुक्त आक्षेप निरासश्रवणमें भी बधिर हे. सो कौनकुं क्या पढ़ा सके हे? जा आसुरी

जीवकुं ठीकसुं स्वाशय प्रकट करनो भी न आतो होय वो अन्यकु का पढ़ावेगो! जा पंक्तिकी ये महामूढ़ पशोरपि पशुः बात केह रह्यो हे वो यों हे : "'मर्यादा'शब्द (यहां प्रमादवश या समासवश निर्विभक्तिक प्रयोग भयो होय तो अक्कलको प्रदर्शन भयो हे, खैर) शब्दमर्यादाम् अर्थञ्च अज्ञात्वैव त्वया; न पुष्टिमार्गप्रवर्तकाचार्यपुत्रत्वात् कुतो मर्यादा इति परमान्धेन परमबधिरेणापि च परमवाचालेन नच वाच्यं, तत्र गणितानन्दकत्वादेव अक्षरब्रह्मणो मर्यादाशब्दप्रयोगे तवैव मनस्तापः". यहां प्रथम नकारको अन्वय 'पुष्टिमार्ग...पुत्रत्वात्' सू मानें तो आपामरजन प्रसिद्ध ज्येष्ठपुत्रताके रौरवनरकदायक अपहारमें पर्यवसान होयगो. और 'न...कुतो मर्यादा'के साथ अन्वय मानें तो हेतुसाध्यभाव बनेगो पर "पुष्टिमार्गप्रवर्तकाचार्यपुत्रत्वाद् न कुतो मर्यादा" (अर्थात् मर्यादा भवत्येव). तब तो पुष्टिमार्गप्रवर्तकाचार्यपुत्रत्वरूप हेतुके वश श्रीविट्ठलनाथजीमें भी मर्यादाकी आपत्ति आवेगी. और पुत्राकांक्षया पतिघातनोपम मूढ़ता या पशुकी अनावृत हो जायेगी. यदि प्रथम नकारको अन्वय द्वितीय नकारसूं माने तो "न न वाच्यम्"को अर्थ होयेगो : अवश्यमेव वाच्यम्. यामें तो पूर्वोक्त दूषण ही वज्रलेपायित हो जावेगो. इन अन्वयसंभावनाकूं भूलके यदि न परमान्धेन और न परमबधिरेण सूं अन्वय मानें तो परमवाचालेन में विशेष अर्थाधान नहीं हो पायेगो. तो निरर्थक पदप्रयोगवशात् या मूढ़मतिकी खुदकी परमवाचलता सिद्ध हो जायेगी. परमुखध्वंसार्थ शेखी बघारनेवालेको स्वमुखध्वंसिमौढ्य रे रे पशोरपि पशुः ! पेहले वाक्यप्रयोग

करनो तो बराबर सीख ले. मैं तो याकुं पढ़ाने लायक ही नहीं समझुं हुं. पर विष्णुशर्माने जैसे मूढ़ राजकुमारनकुं विवेकी बनावेकुं पेहले पञ्चतन्त्रमें जानवरनके कहानी-किस्सा सुनाये एसे याकु पेहले विवेकी बनाके बादमें कोई आकरग्रन्थ पढ़ावे तो मति सुधर सके. कहीं वो भी निराश न हो जाये ये आशंका भी तो बलवती हे ही. क्योंकी ''सर्वस्य औषधम् अस्ति चात्र जगति मौढ्यस्य नास्ति औषधम्''. अक्षरब्रह्म और 'गणितानन्दकम्' के स्वरूप तो जड़मतिकुं महाप्रभुनके सिद्धान्तको ''पल्लवग्राहिपाण्डित्यं क्रयक्रीतञ्च मैथुनं... (स्वाहंकारविमूढत्वं) तिम्रः पुसां विडम्बनाः''न्यायेन कोलापानवायुसमीरितशब्दोद्गारिमुख ही सिद्ध करे हे. स्ववाण्या स्वमुखध्वंसी.

रही बात विभक्ति या व्याकरण के ज्ञानकी तो देखो के 'कालमुख-धवलश्मश्रुधारि-वानर' पद समस्त हे के असमस्त? यदि समस्त मानें तो 'धवलश्मश्रु' पद बहुव्रीही समासके कारण अर्थप्रतिपत्तिकारी होवेसु बादमें 'धारि' जोड़नो व्याकरणशास्त्रीय बोधको दिवालियापन हे. और असमस्त पद मानें तो विसर्गको बावेला मचानेवालेकु 'धारी' प्रयोग करनो चाहितो थो नकि 'धारि'. खैर ऐसी तो और अनेक भाषाकीय क्षति याके संस्कृतलेखनमें ही नहीं प्रत्युत व्रजभाषामें भी भरी पड़ी हें. सो इनके मूढ़ताकी वार्ता कहां तांई करिये!

(पश्चाल्लेख : श्रीगोपीनाथजी मर्यादाके स्वरूप हें मर्यादामार्गीय नहीं ऐसे शुद्धाशय को पाषण्ड

जिन वार्ताभावप्रकाशके वचनन्कुं उद्धृत करके दरसायो हे, वहां मर्यादा होनो पुष्टिमार्गमें श्लाघ्य है या वर्ज्य याके आधारपर विमर्श करनो पड़ेगो. यामें अधोनिर्दिष्ट वचन पर्याप्त प्रकाशपात करे हें :

१. वार्ता "तब श्रीगुसांईजी आप श्रीगोपीनाथजीके सेव्य श्रीमदनमोहनजीकों देके कहे जो इनकी सेवा तुम करो. भावप्रका. सो काहेते जो बलदेवजी मर्यादारूप सो इनके सेव्य ठाकुर हू मर्यादारूप हें सो बंगालीन्कों मर्यादाकी पूजा हे तासों दिये".

२. वार्ता "श्रीगोपीनाथजी कहे 'लक्ष्मी सहित नारायण पधारे हें. तब श्रीआचार्यजी कहे वैभव ठाकुरको देखके तिहारो मन प्रसन्न भयो हे? तब श्रीगोपीनाथजी कहे तिहारो कहाईके श्रीठाकुरजीकी वस्तुमें अपनो मन करेगो ताको निर्मूल नाश जायेगो भावप्र. सो द्रव्यते कछूक गोपीनाथजी प्रसन्न भये हते सो एक पुत्र भयो परन्तु वंश नाहि चल्यो".

३. वार्ता तब दामोदरदासने श्रीगुसांईजीसों कह्यो जो मोकों श्रीआचार्यजीकी आज्ञा भयी हे... तब श्रीगुसांईजीने चरणोदक दीनों. भावप्रका. याहिते श्रीगोपीनाथजी यद्यपि श्रीगुसांईजीके बड़े भाई हें परन्तु काहु वैष्णवने चरणोदक नाहि लियो. या भावतें श्रीगुसांईजीके सात बालक और वल्लभकुलके चरणोदकमें श्रीआचार्यजीको भाव जनायो, तातें चरणोदक लेनो".

इन वार्तान् और वाके भावप्रकाश को विमर्श करवेपे कोई भी घांस न खावेवाला पुरुष समझ सके हे कि 'मर्यादा'शब्द यहां मर्यादामार्गके अर्थमें ही प्रयुक्त भयो हे नकि पुष्टिमार्गमें श्लाघ्य होवेके

अर्थमें. अन्यथा आसुरभावन्के मूर्तिमान स्वरूप आधुनिक हम वल्लभकुलके लांछनरूप गोस्वामी बालकन्सू भी क्या श्रीगोपीनाथजी जघन्य कोटिके हते? जो उनको चरणोदक न लियो जावे पर हमारो लियो जा सके! क्या श्रीगोपीनाथजी वल्लभकुलके नहीं हते? कितने सारे हम गो.बा. श्रीप्रभुचरणके पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकारके अनुसार नहीं केवल चित्रजी या स्वरूप के चरणस्पर्श करके पुष्ट कर देते होवे हें. ऐसे अवैध भगवत्स्वरूप पुष्टिपुरुषोत्तम बन जाते होंय और वल्लभज्येष्ठात्मज श्रीगोपीनाथजी, जिनकी सेवाविधि और सेवाभाव के श्लोक श्रीप्रभुचरणने भी अपनाये पुष्टिभावोंसे ओतप्रोत होवेके कारण, उनके सेव्य प्रभु मर्यादारूप होवेसुं मर्यादामार्गीयन्के सेव्य बन गये! लानत हे श्रीमदाचार्याचरणके ज्येष्ठात्मजके प्रति इतने गर्ह्यतम निन्दनीय मनोभाव रखवेवालेन्कुं. मूढ़मति मोंसू पूछ रह्यो हे के कौनने कही के श्रीगोपीनाथजी मर्यादामार्गीय हें? अरे बेवकूफ! जिन वार्तान्के आधारपे श्रीगोपीनाथजीको स्वरूप मर्यादारूप सिद्ध करनो चाहे हे वे वार्ताएं तो श्रीमहाप्रभुके ज्येष्ठात्मजके प्रति घृणिततम द्वेष असूयातिरेक और मात्सर्यसू भरी भयी हें. यासू प्रमाणतया ये बात ग्राह्य हो नहीं सके. स्वयं (तृतीय/२ गृहःसूरत)के घरमें वर्तमानमें श्रीकल्याणरायजीसू ऊपर जावें तो १८ बालकन्को वंश नहीं चल्यो. सो क्या इन सबन्को भगवद्द्रव्यपे कछुक मन चल्यो हतो? यदि नहीं तो श्रीगोपीनाथजीको कछुक मन चल्यो केहवेवालेकी तो जीभ काट लेनी चहिये हती, बजायके वाकी

बातकु प्रमाण मानवेके) .

चि.अनुरागरायजी : सर्वप्रथम तो विभक्तिको ज्ञान तोकू नहि जो तेने पदप्रयोग कियो 'पशोरपि पशु' ऐसी कही तेरे जीवनमें विसर्गको सर्ग ही नहीं. बाकी हमने लेख लिख्यो है वाको खण्डन करके बताय तो कमसुं कम शीखंडीकी तरह भी मान्यो जाय पराक्रम. हरिरायमहाप्रभुजीके द्वारा प्रणीत १०८नाममें तुरीय नामको क्या करेगो तु? ''नद्वयं मूलार्थं दृढयति'' के अनुसार भी पढ़ेगो तो काकूं मानके आशय तो समझमें आवेगी तोकूं और समझ भी गयो तू.

गोस्वामी श्या.म. : कोलापानवायुसमीरितशब्दोद्गारिमुख अहंकारविमूढ़ पशुने मेरी कितनी बातनूपे देखो कैसी चुप्पी साध ली सो याको मुखध्वंस तो खैर हो ही गयो. अब तो ध्वस्त मुखपिंडनको चूर्णीभाव दरसानो बाकी रह्यो. वो भी धीरज धर मूढ़पशु! क्योंकि विसर्ग तो तेरो विरेचनात्मना होयेगो. ये जो लिखी के ''बाकी इतनो तो तू मोटे सीख गयो कि मर्यादा शब्दको प्रयोग करिवेते मर्यादामार्गीय नहीं कही है'' सो 'मर्यादा' और 'पुष्टि' शब्दनूकी प्रयोगमर्यादा याके सात जन्मनूमें भी याकूं समझ आ पावे तो बहोत मानियो. दूसरेनूकूं समझावे चल्यो है. जहां तक श्रीहरिरायजीके द्वारा लिखित १०८ नामनूको प्रश्न हे तो इन सारे नामनूको खुलासा तो पूरो ग्रन्थ छपाके वेष्णवनूमें बांटे जायेंगे. जो गति विशोधनिकाके चार भागनूके प्रकाशनद्वारा याके पिताकी भई. (पश्चाल्लेख : 'सेवा देवद्रव्य विमर्श क्रोडसंग्रह-

'के द्वितीय भाग छपावेके लिये कितने सारे वैष्णवनन्ने अग्रिम धनराशि भी भेजी हती. पर वा धनराशिपे *'कछुक मन चल जावेसु'* वो तो रख ली. पर आजतक कितने सारे रिमाईन्डर भेजवेके बावजूद न तो रुपया लौटाये और न द्वितीय भाग प्रकाशनको साहस प्रकट हो पायो. एक 'क्रोडाक्रीडनकक्रीडाविभंग' पढ़के ऐसे होश ठिकाने आ गये!) या अनुरागरायकी भी एसी ही गति होवेवाली हे. अहंकारविमूढ़ ये खुद 'स्वपितरं द्वेष्टि' होवेसू अलग रेहवे लग्यो, ऐसे सुनवेमें आयी हे. सो याकुं नहीं केहनी चहिये, फिरभी केवल उदाहरणतया केह रह्यो हूं.

चि.अनुरागरायजी : बाकी हमने लेख लिख्यो वाको खण्डन करके बताय तो कमसू कम शीखंडीकी तरह भी मान्यो जाय पराक्रम. हरिरायजी महाप्रभुजीके द्वारा प्रणीत १०८ नाममें तुरीय नामको कहा करेगो तू? ''न द्वयं मूलार्थं दृढ़यति''के अनुसार पढ़ेगो तो काकू मानके आशय समजमें आवेगो तोकू. और समज भी गयो तू.

गोस्वामी श्या.म. : अरे मूढ़मति! 'शीखंडी'शब्दको प्रयोग छक्कापीरके चरणोदकपान करवेके कारण कर रह्यो हे. तुम्हारे चौटा बजारके परिसरको प्रभाव परिलक्षित हो रह्यो हे. याकुं जवाब तो दे दियो मत्यन्धतावश या तो पढ़ नहीं पायो अथवा पशुबुद्धिवशात् समझ नहीं पायो. यामें भी तेरो अपराध नहीं पर ''ते मृत्युलोके भुवि भाररूपता''को अपराध हे. संस्कृतमें 'शिखंडी' शुद्ध प्रयोग हे 'शीखंडी' नहीं. चौटा बजार एरिया छक्कापीर एरिया भी मान्यो जावे

हे. ये लोग समझे हें गाली बकनो इनको पुश्तैनी अधिकार हे. बात छोटीसी हती कि श्रीगोपीनाथजीकुं मूलाचार्यकी कोटि माननो कि नहीं? वामें अकारण गालीगलौचकी कोई आवश्यकता हती नहीं. सीधे आक्षेप या शंका रखी जा सकती हती.

चि.रविबावा : (रविबावाकु)श्याममनोहर क्वासि मित्रं तव कृतलेखे त्वयैव विलिखितम् अक्षरब्रह्मविषये कृष्णाश्रयस्तोत्रस्य पुन:प्रकाश-नावसरे यद् ''अक्षरब्रह्म भगवान्का ज्ञेय रूप होता है भजनीय रूप नहीं. अत: अक्षरब्रह्मका गणितानन्दकी तरह अनुभव होता है, पूर्णपुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी तरह अगणितानन्दके रूपमें नहीं. अत: उपासनामार्गीय देवोंकी और ज्ञानमार्गीय अक्षरब्रह्मकी तुलनामें भी उपास्यत्वेन ज्ञेयत्वेन या भजनीयत्वेन भी एकमात्र श्रीकृष्ण ही आश्रयणीय हैं''. अत्र किम् अन्यद् अस्ति विशेषं वाद्यमिति वदस्व तत्ते. अपिच त्वया अत्र उपरि जल्पितं यद् ''अक्षरब्रह्म और गणितानन्दकं के स्वरूप'' इति तत्र 'और' इति कथनेन भिन्नत्वं त्वया कल्पितं ततएव तव तत्पयस:पानीयं पतितम् इति कीयद् ज्ञानं तव वाल्लभे सिद्धान्ते ज्ञातमेव? सप्तसप्त पूर्वापरकी तुम कह रहे हो तो तेने मेरे पूर्वज श्रीगोकुलोत्सवजी तात्जीमहाराजकी टीका छपवाई है, वाको कहा करेगो?

गोस्वामी श्या.म. : हां वो मैनें छपवाई और कह रह्यो हूं वो मैंने ही लिख्यो हे. पर वा निरूपणको अभिधार्थ और तात्पर्यार्थ कुं समझनेकी योग्यता खुदकी अहंकारविमूढ़तावश न होय तो ''नैष: स्थाणो: अपराधो यद् एनम् अन्धो न पश्यति''न्यायेन क्या

उपाय? वाल्लभ सिद्धान्तकी मौलिक सूक्ष्मता याकू पहले जतानी पड़ेगी. या अहंदर्पानुरागरायको वाल्लभ सिद्धांतके कखग को भी भान नहीं है. एक सुभाषित थोड़ो सुधारके यों कह्यो जा सके हे ''यदा किञ्चिज्ज्ञोऽयं द्विपइव मदान्धो विचरति, तदा 'सर्वज्ञोऽस्मी'त्यभवद् अवलिप्तास्य हि मतिः, यदा किञ्चित्किञ्चिद् बुधजनसकाशाद् अवगतं तदा 'मूर्खोऽस्मी'ति ज्वरइव मदश्चास्य विभजेत्'' या न्यायसुं सदर्प अनुराग ज्ञेय तो हो सके पर शिष्यत्वेन संबोधनीय=भजनीय नहीं. और कोई प्राक्तन जन्मके सुकृतसूं याको मदज्वर निवृत्त होवे और याकूं आत्मसंबोध होवे के ये मूढ़जनकी बकवाद करतो हतो तो वो कितनी निरर्थक हती तो वोही अनुरागराय संबोधनीय भजनीय भी बन सके. एतावता कोई दो अनुरागराय मान ले तो गीताकार वाकुं ''पृथक्त्वेन तु यद् ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तद् ज्ञानं विद्धि राजसं'' कहेंगे. परन्तु ''सर्वभूतेषु येन एकं भावम् अव्ययम् ईक्षते अविभक्तं(परं ब्रह्म) विभक्तेषु(क्षराक्षरतया प्रविभागेन अवस्थितेषु) तद् ज्ञानं सात्त्विकं मतम्'' तो वो ज्ञानी सात्त्विक भी बन सके हे. ये सर्वतादात्म्यवादी वाल्लभसिद्धान्तसूं मूलतया घोर अपरिचयके कारण मेरे लेखनमें किये विधानके सूक्ष्म रहस्य जान नहीं पावे हे. सो जो भी बकवाद करे वो तो कोलापानवायुसमीरितशब्दो-द्गारिमुखता ही केहलायेगी कि नहीं? जब वाल्लभसिद्धान्तकी मौलिक अवधारणाके बारेमें याको अज्ञान इतनो पराकाष्ठापन्न होय तो वामें पुष्टि/मर्यादा अथवा पर/अक्षर जैसे सूक्ष्म तत्त्वकी चर्चामें ये

कोलापानवायुसमीरितशब्दोद्गारिमुखताशील अनुरागराय कोईके मुखध्वंसकी डींग मारतो भी होय तो केहनो पड़ेगो कि ''स्पर्धन्तां सह जन्मकुञ्जरतया दिक्कुञ्जरैः कुञ्जराः ग्राम्या वा वनवासिनो मदजलप्रस्विन्नगण्ड-स्थलाः आः कालस्य विपर्ययः श्रुणु सखे प्राचीरपालिमलास्वादस्निग्धकपोलभितिरधमः कोलोऽपि संस्पर्धते..

या तरहको संवाद फेसबुकपे चि.रविबावाके माध्यमसु भयो. याकु वहांसू लेके लिपिबद्ध करवाके अब प्रतिज्ञात संस्कृत वादग्रन्थकी भूमिकाके रूपमें प्रकाशित करवेसु अतिरिक्त नयी भूमिका लिखनी अनावश्यक लगे हे. पुनश्च केहनो चाहूंगो के ये चर्चा शान्त मनोभावसू होती और अच्छी बात होती पर चि. अनुरागरायकु मेरे प्रति कूट-कूटके जो अमर्ष हृदयारूढ़ हे, वाको मैंने यहां होमियोपेथी इलाज करनो चाह्यो हे. रोगकु एग्रीवेट करके उपचार कर देवेकी रीति. सो कटुताजनक आक्षेप-प्रत्याक्षेपमें प्रयुक्त गालीगलौचकु Night Might शब्दन्में जैसे 'जी-एच' लेटर्स सायलेंट माने जावें बांचे जाय पर बोले नहीं जाय, वैसे ही बांचके भी बोले बिना पढ़ोगे तो विवादास्पद मुद्दान्को मोकु लगे हे के अपेक्षित समाधान प्रभुकृपासू भलीभांति हो पायेगो. भले गालीगलौचके साथ पर इन मुद्दान्कु उठावेवाले पूर्वपक्षतर्कके कारण चि. अनुरागरायबावाके प्रति हार्दिक कृतज्ञताज्ञापन करते भये...

गोस्वामी श्याम मनोहर

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥ श्रीगोपीनाथप्रभुचरणाचार्यत्वसंशयध्वंसवादः ॥

(मंगलाचरणम्)

पुष्ट्याचार्यत्रयीं वन्दे पुष्टिमार्गप्रवर्तिकाम् ।
त्रयीद्विषामासुराणां मुखध्वंसाय वर्त्मनि ॥

(केनचिद् वाचाटवृन्दाग्रण्या प्रलपितः पूर्वपक्षः)

१.ननु केचन जगद्गुरु-महाप्रभु-श्रीवल्लभाचार्य-प्रकटित-पुष्टिभक्ति-सम्प्रदायविदः पुष्टिमार्गप्रवर्तक-श्रीमदाचार्यचरणात्मजानाम् उभयेषाम् श्रीगोपीनाथचरणानां जगद्गुरुमहाप्रभुश्रीविट्ठलनाथचरणानाञ्च स्वरूपं तदवतारं तत्कार्यं तत्प्रयोजनं च अजानन् अविवेकिनो महामूढाः चौराः आत्मापहारिणो मोहमयपापिनः पुष्टिमार्गमुख्यफलानधिकारिणः श्रीगोपीनाजिच्चरणान् पुष्टिमार्गमूलाचार्यत्वेन प्रतिपित्सन्ते, पुष्टिमार्गवैष्णवजनान् अन्यथा नेतुं स्वार्थपूर्तये तत् सर्वथा अप्रामाणिकत्वाद् हेयमेव सद्वैष्णवैः. उक्तञ्च ''योऽन्यथा सन्तम् आत्मानम् अन्यथा प्रतिपद्यते किं तेन न कृतं पापं चौरेण आत्मापहारिणा'' इति.

२.ततो यस्य यत्स्वरूपं यदवतारो यत्कार्यं यत्प्रयोजनं तदेव वक्तव्यं न अन्यथा.

३.तथाहि श्रीगोपीनाथजिच्चरणानां स्वरूपम् अक्षरब्रह्मशेषबलभद्रस्य इत्यत्र न सन्देहलेशोऽपि आदिभक्तेषु ''बलदेव श्रीगोपीनाथ कहिये श्रीविट्ठल नन्दानन्द'' इति भक्तकविश्रीगोपालदासैरेव वल्लभाख्याने आख्यातम्. अत्र

श्रीबलदेवस्वरूपं श्रीगोपीनाथजिच्चरणानाम् इति स्पष्टम्. नवमेऽपि ''श्रीगोपीनाथजी सोहामणा नवजलतनभाण रे... सुखदाता लघुभ्रातना पूरणपुरुषप्रमाण रे'' इति तत्कार्यप्रयोजनञ्च. अन्यद् भगवद्(? त्!)सन्मुखे अनवसरे च गीयमानपदश्रवणेन स्पष्टं स्याद् मानसे तव.

४.नच अस्मिन् पंक्तौ अग्रे 'पूरणपुरुषप्रमाण' इति उक्तत्वात् पूर्णपुरुषोत्तमत्वं वाच्यं त्वया मन्दमतिकेन रे! 'लघुभ्राताना'इत्यस्यैव तद्विशेषणत्वात्.

५.ननु ''श्रीवल्लभप्रतिनिधिं तेजोराशिं दयार्णवं गुणातीतं गुणनिधिं श्रीगोपीनाथम् आश्रये'' इति इति षष्ठश्रीबालकृष्णप्रभुपदसेवनदक्षश्रीव्रजराजचरणाः तथैव श्रीपुरुषोत्तमचरणाः च आहुरिति श्रीगोपीनाथजिच्चरणानां पुष्टिमार्गे प्राधान्यमेव, इति चेद् न; सदृशार्थे प्रसिद्धेऽपि ''मुख्याभावे तत्सदृश उपादीयते स 'प्रतिनिधि'शब्दस्य तात्पर्यार्थः'' प्रौढमनोरमायां भट्टोजिदीक्षितैः उक्तमिति न मुख्यत्वम् अपितु बोधयन्ति यथायथस्वरूपं 'श्रीवल्लभप्रतिनिधिः' इत्यादिना. नच भाष्यरश्मौ मंगलाचरणे ''पितृचरणोदितसरणौ साकारब्रह्मस्थापि-कायान्तु आदिमूर्तिभजनेषु प्रतिनिधीन् श्रीविट्ठलान् नमामि'' इत्यत्रापि प्रौढमनोरमोक्ततात्पर्यार्थएव इति वाच्यं, प्रधानत्वाद् मुख्यभावाभावात् 'प्रतिनिधि'शब्दस्य अत्र अर्चा इति अर्थः. आराध्यभगवद्विग्रहम् इति यावत्. ''प्रतिमानं प्रतिबिम्बं प्रतिमा प्रतियातना प्रतिच्छा प्रतिकृतिः अर्चा पुंसि प्रतिनिधिः''इति अमरात्.

६.नचापि ज्येष्ठात्मजत्वेन धर्मशास्त्रैरेव प्राधान्यम् इति वाच्यं, पुष्टिमार्गगुरुविषयाभावात्वाद् धर्मशास्त्राणां तथापि ते सन्तुष्ट्यचै ''सर्वेऽपि धर्मयुक्ताः भागिनो. यस्तु अधर्मेण द्रव्याणि प्रतिपादयति ज्येष्ठोऽपि तम् अभागं कुर्वीत'' इति आपस्तम्बधर्मसूत्राद् ज्येष्ठस्य प्राधान्यम् अनभिमतम्

आपस्तम्बस्य. अपिच अस्य मार्गस्य अलौकिकत्वात् अत्रस्थः सर्वोऽपि विषयो भिन्नएव इति दिक्.

७.ततः ''तेजो यस्य विराजते स बलवान्''इति न्यायेनैव सर्वैरपि आप्तैः श्रीमद्विट्ठलनामहाप्रभुचरणानामेव प्राधान्यम् अंगीकृतम्.

८.चतुरशितिवार्ताग्रन्थे पुष्टिमार्गादिभक्तवर-श्रीदामोदरदासेभ्यः ''जैसे तू मोकों जानत हे तैसे इनको स्वरूप जानियो'' इति श्रीमदाचार्यैरेव कण्ठरवेण आज्ञप्तत्वात्, श्रीगोकुलनाथप्रभुचरणैः ग्रथितत्वात्, श्रीहरिरायचरणैः भावप्रकाशव्याख्यानेन सुदृढीकृतत्वात् च; श्रीविट्ठलनाथमहाप्रभूणां पूर्णपुरुषोत्तमत्वे न कोऽपि शंकावकाशः सताम्.

९.पुनश्च निर्गुणभक्तेषु यथा श्रीदामोदरदासचरणाः तथैव श्रीनागजीभट्टाः सगुणभक्तेषु श्रीमद्विट्ठलनाथाचार्याणाम् एके इति भावप्रकाशे अस्मत्स्वामिनः श्रीहरिरायचरणाः श्रीमद्वल्लभाचार्यमहाप्रभवः प्राहुः. तत्र पूर्वं श्रीनागजिभट्टचरणाः श्रीमद्वल्लभाचार्यमहाप्रभुचरणान् निकटे गत्वा मन्त्रोपदेशार्थं प्रार्थयामासुः, तदानीं स्वयमेव ''तुम लरिकाके पास जाइके नाम पाओ'' इति श्रीमदाचार्यचरणाः ऊचुः. तदा ते श्रीश्रीविट्ठलनाथमहाप्रभुचरणान् निकटे गत्वा पित्राज्ञया ''आगतोऽस्मि कृपया सेवकं कुर्वन्तु!'' इति नमनपूर्वकं प्रार्थयामासुः तदा श्रीमत्प्रभुचरणैः अंगीकृतम्. तत्र भावप्रकाशो दर्शनीयो अत्यलौकिकज्ञानदश्च ''श्रीगोपीनाथजी मर्यादा बलदेवजीको अवतार हे'' इति 'मर्यादा'शब्द(? :!) शब्दमर्यादाम् अर्थं च अज्ञात्वैव त्वया न पुष्टिमार्गप्रवर्तकाचार्यपुत्रत्वात् कुतो मर्यादा? इति परमान्धेन परमबधिरेणापि च परमवाचालेन नच वाच्यं, तत्र गणितानन्दकत्वादेव अक्षरब्रह्मणो 'मर्यादा'शब्दप्रयोगे तवैव मनस्तापः.

१०.पुनश्च आसुरव्यामोहलीलानन्तरमपि श्रीदामोदरदासेभ्यः श्रीमदाचार्यैः स्वात्मजश्रीमद्विट्ठलनाथानां चरणोदकं नित्यं पेयं तदा भावप्रकाशोऽपि अत्यलौकिकः सुन्दरो विराजते. तत्र ''श्रीगोपीनाथजी श्रीआचार्यजीके बड़े पुत्र यद्यपि श्रीगुसांईजीके बड़े भाई हें परन्तु काहू वैष्णवने चरणोदक नाहि लियो. या भावते श्रीगुसांईजीके सात बालक और वल्लभकुलके चरणोदकमें श्रीआचार्यजीको भाव जनायो. तासों चरणोदक लेनो दण्डौत करनो यह सिद्धान्त जनायो'' इत्यादिकम् अवलोकयित्वा क्व कोऽपि सन्देहः सताम्!

११.ततः श्रीवल्लभविट्ठलेशाचार्ययोः अभेदः सम्प्रदायविदः तद्दासाः जानन्त्यपि न त्वमेव रे! गीतञ्च आशावरीरागावल्यां च ''श्रीमद्वल्लभके घर प्रभु जो फिर अवतार न धरते हो. तो हम सरिखे मूढ़ पतितजन कहो कैसे निस्तरते हो... रुचिर रूप बलिदास नारायण तृषित नयन क्यों ठरते हो'' इति.

१२.अपिच श्रीहरिरायमहाप्रभुचरणैः श्रीमहाप्रभोः अष्टोत्तरशतनामावल्यां च तृतीयं नाम ''श्रीगोपीनाथजनकाय नमः'' इत्येव उक्त्वा अग्रे तुरीयं नाम ''श्रीविट्ठलेशे स्वाखिलमाहात्मयस्थापकाय नमः'' इति नाम उक्तं तेन ''स्ववंशे स्थापिताशेषमाहात्म्यः'' इति सर्वोत्तमस्तोत्रोक्तनामापि व्याख्यातम्. तेन यादृशं श्रीविट्ठलेश्वराचार्याणां माहात्म्यं जगति न तादृशं कस्यापि. अतएव तृतीयशिक्षापत्रोक्तं ''श्रीकृष्णः श्रीवल्लभाचार्यः तथा श्रीविट्ठलेश्वरः तथा लीलास्थसामग्री नैतत्साम्यं कदाचन'' इति राराजते. अत्र एकत्वम् अद्वितीयत्वबोधनाय इति जानीत.

१३.तथैव 'प्रभु'पदप्रयोगोऽपि श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरणेष्वेव न तज्ज्येष्ठभातृ-श्रीगोपीनाजिच्चरणेषु आप्तैः कृतः. तद् उक्तं श्रीमत्प्रभुचरणविरचितसेवाविधि-

व्याख्यायाम् आदावेव "'प्रभु'पदं श्रीमदाचार्यपरं श्रीमत्प्रभूत्सवः इति आचार्योत्सवे उक्तत्वाद् इति."

१४.नच श्रीगोपीनाथजिच्चरणानामपि एतन्मार्गाचार्यत्वं वाच्यं, तवापि प्रियश्रीगोपेश्वरजिच्चरणैरपि कुतो न उक्तः, इति चेद् न; ब्रह्माण्डपुराणे सप्तसप्तत्यध्याये मथुरागोकुलाद्युक्तं "तत्राहं मुहुः तं रूपं सर्वलोचनगोचरं करिष्ये विमलं सौम्यं मम भक्तसुखावहं विट्ठलेशेति विख्यातिं गमिष्ये जगती तले" इति वाक्येभ्यः इति आहुः.

१५.किमधिकेन श्रीगोपीनाजिद्भिः स्वयमपि सेवाभावनायां "श्रीवल्लभो जयति भक्तहितैकबन्धुः आविश्चकार तनयं किल विट्ठलं यः तस्यैव पादयुगलं सततं नमामि. प्रेम्णा तदस्तु हृदये मम सर्वदैव" इति आहुः इति पुष्टिमार्गाचार्यत्वेन श्रीवल्लभविट्ठलेशौ विजयेतेतमामिति न कोऽपि शंकापंकावलेशोऽपि ईषद् इति शम्.

(अथ एतन्निरसनम्)

कोलापान-समीरित-पदोद्गारि-मुखादुद्गता
मौढ्याहंकृतिमद्यपिप्रलपिता गर्ह्यैः सर्वैः जनैः।
वल्लभवंशजता कलंकरुषिता संसाधिता वै यया
सैषा पञ्चदशी स्ववर्त्मनि भृशं दुर्ज्ञाज्ञभेडोत्कटा॥

१.तत्र उपक्रमे तावद् "ननु केचन जगद्गुरु-महाप्रभु-श्रीवल्लभाचार्य-प्रकटित-पुष्टिभक्ति-सम्प्रदायविदः पुष्टिमार्गप्रवर्तक-श्रीमदाचार्यचरणात्मजानाम् उभयेषाम् श्रीगोपीनाथचरणानां जगद्गुरुमहाप्रभुश्रीविट्ठलनाथचरणां च स्वरूपं तदवतारं तत्कार्यं तत्प्रयोजनं च अजानन्" इत्यारभ्य मध्ये "मार्गमुख्यफलानधिकारिणः श्रीगोपीनाजिच्चरणान् पुष्टिमार्गमूलाचार्यत्वेन प्रतिपित्सन्ते" इति उक्त्वा

''योऽन्यथा सन्तम् आत्मानम् अन्यथा प्रतिपद्यते किं तेन न कृतं पापं चौरेण आत्मापहारिणा'' इत्यन्तं यावद् यत् प्रलपितं तद् नृसमाजबहिर्भूतस्य अनाचार्यवत्समजजातवतो वाचाटस्य वाक्चञ्चलीकरणमेव, [१]आचार्यस्वरूप-[२]तत्कर्तव्य-[३]तत्प्रयोजन-[४]तदधिकाराणां विषये सामान्यबोधशून्यत्वख्यापकत्वात् च.

तथाहि न तावद् ''यत्र-यत्र पुरुषोत्तमत्वं तत्र-तत्र आचार्यत्वं'' इति आचार्यत्वं पुरुषोत्तमत्वव्यापकं वा ''यत्र-यत्र आचार्यत्वं तत्र-तत्र पुरुषोत्तमत्वम्'' इति तद्व्याप्तं वा इति कैश्चिदपि आप्तपुरुषैः क्वचिद् व्याप्तिनियमो अभ्युपगतः. श्रुतौ तावद् :

[१]आचार्यस्वरूपविषये -

''यथा, सौम्य!, पुरुषं गन्धारेभ्यो अभिनद्धाक्षम् आनीय तं ततो अतिजने विसृजेत्... तस्य यथा अभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयाद् एतां दिशं व्रज इति. स ग्रामाद् ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधावी गन्धारानेव उपसम्पद्येत एवमेव इह आचार्यवान् पुरुषो वेद''-''आचार्यदेवो भव'' (छान्दो.उप.६।१४।२-तैत्ति.उप.१।११।२) इत्यनयोः वचनयोः ब्रह्मज्ञानोपदेशेन मोक्षप्रापकोपायप्रवेदयिता आचार्यो देवबुद्ध्या आदरणीयइति देवत्वमपि यत्र न नियतं पुरुषोत्तमत्वस्य तु का कथा!

[२]तत्कर्तव्यन्तु -

श्रुतौ **''वेदम् अनूच्य आचार्यो अन्तेवासिनम् अनुशास्ति : सत्यं वद धर्मं चर स्वाध्यायाद् मा प्रमदः... मातृदेवो भव पितृदेवो आचार्यदेवो भव अतिथिदेवो भव... यानि अनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि... यानि अस्माकं सुचरितानि तानि त्वया उपास्यानि नो इतराणि''** (तैत्ति.उप.१।११।१-२) इत्येवमाद्युपदेशादिरूपं सूचितम्. वचनेषु च एतादृशेषु

आचार्यकर्तव्यस्य मनुष्याधिकारकत्वमेव सुस्पष्टमिति न आचार्यत्वस्य पुरुषोत्तमत्वेन सह व्यापकत्वव्याप्यत्वान्यतरसम्बन्धस्य सम्भावनालेशोऽपि. नच एतत्कर्तव्यनियमो वेदाध्यापकाचार्याणां नतु शांकर-वैष्णव-शैवादिसम्प्रदायाचार्याणाम्. तेषां कृतेतु भाष्यकर्तृत्वरूपमेव आचार्यत्वं सर्ववादिसम्मतम्. यथाच भाष्यप्रकाशमंगलाचरणपद्येषु प्रकाशकाराः आहुः **''तं व्यासाशयगोचरं प्रथयितुं यैः भाष्यम् आभाषितं तान् आचार्यवरान् नमामि''** (अणुभा.प्रका.मंग.१।१।१।४) इति शंकनीयं, मोक्षप्रापकज्ञानोपदेशात्मकमेव भाष्याभाषणमिति सम्प्रदार्याचार्याणामपि श्रुत्युक्ताचार्यस्वरूपानतिरेकात्. **''उपनीय तु यः शिष्यं वेदम् अध्यापयेद् द्विजः सकल्पं सरहस्यं च तम् आचार्यं प्रचक्षते''** (मनुस्मृ.२।१४०) इत्यत्र मनुस्मृतावपि 'सरहस्यं'पदेन उपनिषद्ब्रह्मसूत्रादिकम् आरभ्य भाष्यादिपर्यन्तं यावद् विवक्षायाः अवश्यग्राह्यत्वाद्.

[३]आचार्यप्रयोजनञ्च -

''तदेतद् ब्रह्मा प्रजापतये उवाच. प्रजापतिः मनवे, मनुः प्रजाभ्यः. तद् ह एतद् उद्दालकाय आरुणये ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रोवाच. इदं वाव तद् ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात् प्राणाय्याय वा अन्तेवासिने नान्यस्मै कस्मैचन; यद्यपि, अस्मा इमाम् अद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्याद्, एतदेव ततो भूयः इति'', ''श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यः आचार्याद् हैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति'', ''ते होचुः, उपकोसल!, एषा ,सौम्य!, अस्मद्विद्या आत्मविद्या च, आचार्यस्तु ते गतिं वक्तेति आजगाम ह अस्य आचार्यः'' (छान्दो.उप.३।११।५-६, ४।९।३, ४।१४।१) इत्येवमादिवचनेष्वपि पितृत्वोपाधिना ज्येष्ठपुत्राय यथा तथा आचार्यत्वोपाधिना प्राणाय्याय अन्तेवासिने ब्रह्मज्ञानोपदेशस्य कर्तव्यताबोधनपुरस्सरम् उपदिश्यमानं ब्रह्मज्ञानं पुत्राय अन्तेवासिने वा साधिष्ठप्रापकं शिष्यसद्गतिप्रबोधकं च भवति, इति आचार्यत्वप्रयोजनविचारेणापि पुरुषोत्तमत्वेन समव्याप्तिः

विषमव्याप्तिः वा आचार्यत्वस्य नाभ्युपेता निरूपिता. तस्माद् श्रीगोपीनाथचरणाः अक्षरब्रह्मरूपशेषावतारबलभद्रतया पुष्टिमार्गे आचार्यपदवीं नारोढुं शक्नोति वदन् कुतो न महामूढतया अवगन्तव्यः ?

ननु तथापि अगणितानन्दपूर्णपुरुषोत्तमरूप-श्रीविट्ठनाथापेक्षया अल्पोत्कर्ष-वशादेव पूर्णपुरुषोत्तमप्रापकपुष्टिमार्गाचार्यत्वं न युज्यते श्रीगोपीनाथानाम्, अक्षरब्रह्मणो गणितानन्दत्वन्तु प्रभुचरणैः **''सच्चिदानन्दकम्' इति एते भगवद्धर्मात्मकाः प्रकटत्रितयात्मकम् अक्षरं ब्रह्म. अतएव प्रपञ्चः तदात्मकइति सच्चिदानन्दात्मकत्वं तस्मिन् उच्यते... 'क'प्रत्ययेन गणितानन्दत्वमेव नतु पुरुषोत्तमवत् पूर्णानन्दत्वम् इति ज्ञाप्यते''** (सि.मु.प्र.३) इति विद्योतितमेव. तादृशाक्षरब्रह्मरूपतया श्रीगोपीनाथानाम् अगणितानन्दपुरुषोत्तमप्रापक-पुष्टिमार्गे मूलाचार्यत्वं विरुद्धमेव इति चेद् न, सर्वनिर्णयें स्वयं महाप्रभुणा **''ननु आनन्दांशतिरोभावे जीवत्वमेव स्याद् यथा महदादीनां इति आशंक्य आह** कारि.**'इच्छामात्रात् तिरोभावः तस्य अयम् उपचर्यते... प्रभुत्वेन हरेः स्फूर्तौ लोकत्वेन तदुद्भवो अन्तर्याम्यवतारादिरूपे पादत्वम् अस्य हि. हंसाकृतित्वकथने पुच्छत्वं परमात्मनः.'** प्रका.**मूलाविच्छेदरूपेण तदाधारतया स्थितः. तथापि न पुरुषोत्तमाद् भिन्नतया अवस्थितः किन्तु निरन्तरएव... मूलेन पुरुषोत्तमेन सह अविच्छिन्नतया तिष्ठति नतु कार्यत्वेन इति आह 'तदाधारतया' इति. एषा स्थितिः सर्वदा... ब्रह्म अक्षरम् आनन्दमयस्य पुच्छमिति निःसंदेहाय 'परमात्म'पदम्''** (त.दी.नि.प्र.२।१००-१०३) इति विवेचनाद्; ''आनन्दमात्र-करपादमुखोदरादेः सर्वत्र च त्रिविधभेदविवर्जितात्मनः'' त.दी.नि.१।४४ इति वचनाच्च पुरुषोत्तमेन अविच्छिन्नतया अवस्थितस्य तच्चरणरूपस्य कुतो न अगणितानन्दरूपत्वम्? विश्वात्मकस्य विश्वातीतस्येति द्विरूपस्य अक्षरब्रह्मणः, एतेन विश्वे आनन्दतिरोभावाद्, विश्वात्मके अक्षरब्रह्मण्यपि औपचारिकं गणितानन्दकत्वम्. विश्वातीतरूपस्यतु अक्षरस्य परब्रह्मधर्मरूपत्वाद् अगणितानन्दत्वमपि अवश्यम् उररीकार्यम्. यस्मात् तदविच्छिन्नतया स्थिते

परस्मिन्नपि ब्रह्मणि गणितानन्दत्वं तावत्यंशे दुर्वारमेव भवेत्. अन्यथा गणितानन्दत्वोक्तिः स्वतोव्याहता भवेत्. इदम् अत्र अवधेयं स्वार्थिक'क'प्रत्ययस्य **''इवे प्रतिकृतौ संज्ञायाञ्च''** (पाणि.सू.५।३।९६-९७) इत्यत्र स्वार्थो हि औपचारिकएव व्याख्यासु आदृतइति अक्षरस्य गणितानन्दत्वे 'गणितानन्द'शब्दएव प्रयोक्तव्यः आसीद् न पुनः 'गणितानन्दकम्' इति. अतोहि औपचारिकमेव गणितानन्दत्वं नतु वस्तुकृतम्. अतएव अक्षराधिकरण-प्रकाशाश्रयवद्वाधिकरणयोः भाष्यकाराणां **''अक्षरं परमात्मैव... अन्यव्यावृत्तेः=अन्यस्य भावो अन्यभावो अब्रह्मधर्म इति यावत् तस्य अत्र व्यावृत्तेः... नहि अत्र तादृशो धर्मो अस्ति''**, **''ननु धर्माः नाम के ब्रह्मणो भिन्नाः तत्कार्यरूपाः आहोस्विद् ब्रह्मैव इति संशये... तत्र धर्माणामपि ब्रह्मत्वे एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानम् उपपद्यते न अन्यथा''** (अणुभा.१।३।१०, ३।२।२८-२९) इति उद्घुष्टत्वादेव श्रीगोपीनाथानाम् अक्षरब्रह्मरूपत्वेऽपि न श्रीवल्लभविट्ठलाभ्यां तत्त्वतो भेदः कश्चन सम्भवदुक्तिकः.

आचार्यत्वाधिकारस्तु मन्वादिस्मृतिषु सुविशदीकृतः उपलभ्यते.

तथाहि :

> **''सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः मुखबाहूरुपज्जानां पृथक् कर्माणि अकल्पयत्. अध्यापनम् अध्ययनं दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानाम् अकल्पयत्. प्रजानां रक्षणं दानम् इज्याध्ययनमेव च विषयेषु अप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः. पशूनां रक्षणं दानम् इज्याध्ययनमेव वणिक्पथं कुसीदं वैश्यस्य कृषिमेव च... विद्या ब्राह्मणम् एत्य आह शेवधिस् तेऽस्मि रक्ष मां असूयकाय मां मा दास् तथा स्यां**

वीर्यवत्तमा. यमेव तु शुचिं विद्याद् नियतं ब्रह्मचारिणं तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपाय अप्रमादिने... उपनीय तु यः शिष्यं वेदम् अध्यापयेद् द्विजः सकल्पं सरहस्यं च तम् 'आचार्यं' प्रचक्षते. एकदेशन्तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः यो अध्यापयति वृत्त्यर्थम् 'उपाध्यायः' स उच्यते. निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधिः सम्भायति च अन्नेन स विप्रो 'गुरुः' उच्यते. अग्न्याधेयं पाकयज्ञान् अग्निष्टोमादिकान् मखान् यः करोति वृतो यस्य स तस्य 'ऋत्विग्' इह उच्यते... ब्राह्मणस्यैव कर्म एतद् उपदिष्टं मनीषिभिः राजन्यवैश्ययोस्तु एवं नैतत् कर्म विधीयते... अब्राह्मणाद् अध्ययनम् आपत्काले विधीयते अनुव्रज्या च शुश्रुषा यावद् अध्ययनं गुरोः''.

(मनुस्मृ.१।८७-९०,२।११४-११५,१४०-१४३, १९-०,२४१).

तस्माद् एतस्माद् हेतोः इह अभिसंहितन्तु : आचार्यत्वाधिकारो ब्राह्मण्यहेतुकएव शास्त्राभिप्रेतो न पुनः पुरुषोत्तमत्वहेतुकः.. तेन विप्रतिपत्त्यभावात् श्रीमद्वल्लभार्याः आहोस्विद् श्रीविट्ठलनाथार्याः अपि यदि श्रीकृष्णमुखारविन्द-रूपाः भवेयुः साक्षात् श्रीकृष्णरूपाः वा भवेयुः नो वापि स्युः, कथमपि तदुपाधेः आचार्यत्वाधिकारनियामकत्वे न कश्चन उपयोगः.. अपि श्रीगोपीनाथार्याः पुरुषोत्तमत्वरहिताः अक्षरब्रह्मरूपाएव कुतो न स्युः न तेन पुष्टिमार्गाचार्यत्वे कश्चिद् बाधकः..

यत्तु श्रीगोपीनाथानां कृते या पुष्टिमार्गाचार्यत्वप्रतिपिपादयिषा सा मार्गमुख्यफलानधिकारिता इति उक्तिः सातु निर्विचिकित्सैव भाति पुष्टिमार्गेऽपि

यथा अलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यं सेवोपयोगिदेहो वा वैकुण्ठादिषु फलं पुष्टिजीवानां कृते इति सिद्धान्तः, तथैव **''सोऽपि तैः तत्कुले जातः कर्मणा जायते यतः''** (पु.प्र.म.२६) इति न्यायेन प्राक्तनकर्मवशाद् वल्लभकुलेऽपि जातस्य **''तस्मात् श्रीवल्लभाख्य! त्वदुदितवचनाद् अन्यथा रूपयन्ति भ्रान्ताः ये ते निसर्गत्रिदशरिपुतया केवलान्धन्तमोगाः''** (वल्लभा.३) इति श्रीमत्प्रभुचरणोक्तेः श्रीवल्लभवचनाद् अन्यथानिरूपणे अन्धन्तमोगामितापि खलु न लौकिकीति अलौकिक्येव आसुराणाञ्च जीवानां कृते मुख्यफलरूपापीति तत्र न विवादशंका काचित् समुदेति. वाचाटस्यतु पुनः न केवलवल्लभवाग्विरोधः प्रत्युत तज्ज्येष्ठात्मजद्रोहरूपो महानपराधोऽपीति नूनम् एतस्य अन्धन्तमोगामित्वे न अस्माभिरपि काचिद् विप्रपत्तिः उद्भावयितुं शक्या! अन्ते ''योन्यथा सन्तम् आत्मानम्...'' इत्यादिशास्त्रवचनोदाहरणफटाटोपः सतु शिष्टे एतन्निरसने निपुणतया निरस्तः सर्वैरपि दर्शनीयो भवेदेव.

२.ततो यस्य यत्स्वरूपं यदवतारो यत्कार्यं यत्प्रयोजनं तदेव वक्तव्यं न अन्यथा इति सर्वथैव मूढेनापि काकतालीयन्यायेन सुभाषितमेवेति नो मनःप्रत्ययः.

३.यच्चापि ''श्रीगोपीनाथजिच्चरणानां स्वरूपम् अक्षरब्रह्मशेषबलभद्रस्य इत्यत्र न सन्देहलेशोऽपि आदिभक्तेषु 'बलदेव श्रीगोपीनाथ कहिये श्रीविट्ठल नन्दानन्द' इति भक्तकविश्रीगोपालदासैरेव वल्लभाख्याने आख्यातम्. अत्र श्रीबलदेवस्वरूपं श्रीगोपीनाथजिच्चरणानाम् इति स्पष्टम्. नवमेऽपि 'श्रीगोपीनाथजी सोहामणा नवजलतनभाण रे... सुखदाता लघुभ्रातना पूरणपुरुषप्रमाण रे' इति तत्कार्यप्रयोजनञ्च'' इत्यादि स्वनिरंकुशतुण्डतामण्डनकं मुखे धृतं तत् प्राक्तनव्याख्यातृभिः अनादृतत्वाद् सर्वथा हेयमेव.

तथाहि :

(व्रजाभरणीया)

तदनंतर द्वितीय रास बसंतको रास. ता विषे रंगसो रमण करत हें. एसें बलदेव तथा श्रीगोविंद देखे. ये दोउ भावसों प्रगट होइगें, यह जाने, तब मनमें अति आनंद उत्पन्न भयो. बलदेवजी सो प्रमाणरूप मर्यादारक्षक वयक्रमसों बड़े. तेंसें गोपीनाथजीकों भक्तिमार्गकी मर्यादाके रक्षक ज्येष्ठभ्राता कहेंगे, श्रीविट्ठलकों नंदनंदन कहेंगे. ये श्रीगोपीनाथ तथा श्रीविट्ठलनाथजी वेदमार्गको विस्तार करेंगे. जन आपुने तिनकों आनंद देहिंगे. वर्णाश्रमधर्मसहित स्वस्वरूपानंददान करेंगे. (वल्लभा.व्रजाभ.२।२३-२४)

(भावदीपिका)

रंगे इति, तत्र बलदेवो गोविन्दः च स्वानन्देन क्रीडां कुर्वन्तौ श्रीवल्लभेन दृष्टौ. पश्चात् तन्मनसि आह्लादो जातः. केन हेतुना? तत्र आह : एतौ मम गृहे पुत्रभावेन भावात्मकरूपेण भविष्यतः. तौच संयोग-विप्रयोगरूपौ ज्ञेयौ. ज्येष्ठस्य विप्रयोगरूपत्वं श्रीवल्लभप्रतिनिधित्वेन तदग्रिमव्याख्याने स्फुटं भविष्यति. बलदेव इति. मूले कहिये इति पदेन श्रीगोपीनाथस्तु बलदेवरूपः इति कथनमात्रं नतु साक्षाद् बलदेवरूपः. कस्माद्? गुर्जरदेशे यत्र वास्तविकत्वं नास्ति तत्र 'कहिये' शब्दस्य कथनम्. तस्माद् अवास्तविको अर्थो अयं नतु युक्तितः. यतः श्रीबलदेवस्तु पुरुषोत्तमस्य प्रमाणरूपः शेषावतारत्वात्. **''शेषनागो भवेद् रामः''** (कृष्णोप.१२) इति कृष्णोपनिषदि **''शेषं च मत्कलां सूक्ष्माम्''** (भाग.पुरा.८।४।२०) इत्यादिवाक्यात्.

''ब्रह्मा भवो अहमपि यस्य कलाः कलायाः'' (भाग.पुर.१०।६८।३७) इति दशमस्कन्धोत्तरार्द्धे बलदेवेन स्वेनैव स्व-स्वरूपकथनात्. एतेन बलदेवस्य कलाकलारूपत्वम्. अत्रतु श्रीगोपीनाथस्य न कलाकला-रूपत्वम्. यदा बलदेवत्वेन प्रतिपाद्येत तदा श्रीगोपीनाथे कलाकलारूपत्वम् आपद्येत. तस्मात् श्रीगोपीनाथस्तु श्रीवल्लभरूपएव. श्रीवल्लभपुत्रत्वात्. अतएव **''श्रीव-ल्लभप्रतिनिधिं तेजोराशिं दयार्णवं गुणातीतं गुणनिधिं श्रीगोपीनाथम् आश्रये''** (अणुभा.प्रका.१।१।१) इति श्रीपुरुषोत्तमचरणैः भाष्यप्रकाशे, ''गुणनिधि श्रीगोपीना-थजू निर्गुण तेजनिधान''(धमार बिलावल-१) इति श्रीमाणिकचन्देन च उक्तम्. पुनः तत्रैव ''बालक सब ब्रह्म जानिके'' (तत्रैव-७) इति. **''स्ववंशे स्थापिताशेषस्वमहात्म्यः स्मयापहः''** (सर्वो.स्तो. २२) इति वाक्यात्. **''''आत्मा वै पुत्रः उत्पन्नः' इति वेदानुशासनं स एष भगवान् द्रोणः प्रजारूपेण वर्तते''** (भाग.पुरा.१।७।४५). तथाच वेदे **''अंगाद् अंगात् सम्भवसि हृदयाद् अभिजायसे आत्मा वै 'पुत्र'नामा असि स जीव शरदः शतम्''** (शतप.ब्राह्म.१४।९।४) इत्यादिवचनाद् न कोऽपि शंकालेशः. किञ्च **''सुखदाता लघुभ्रातनाँ पूरणपुरुष प्रमाण''** (वल्लभा.९।३) इति वक्ष्यमाणवाक्यविरोधात् च. ननु यदि एवं चेत् तर्हि प्राचीनैः सर्वैः किं ग्रहिलतया उक्तम्? इति चेद् उच्यते आन्तरालिकैः प्राचीनैः प्रसिद्धमात्रेण उक्तम्. नतु मूलस्थानुभावकैः आचार्यसेवकैः सर्वसिद्धान्तनिर्णा-यकैः श्रीपुरुषोत्तमचरणैः च. यथा श्रीमदाचार्यचरणैरपि

प्रसिद्धमात्रेण प्रक्षिप्ताध्याय-त्रयस्य विवरणं कृतम् इति टिपिण्याम् उक्तम्. तेन कृत्वा किं भागवताध्यायाः भविष्यन्ति? श्रीविट्ठलस्तु नन्दनन्दनएव. इमौ वेदमार्गं पुष्टिमार्गं विस्तरयिष्यतः. पुनः स्वकीयजनानाम् आनन्दं दास्यतः.(वल्लभा.भावदी.२।२३-२४).

(विवृतिः)

जिनकों 'श्रीगोपीनाथजी' कहियें सो कहत हें ते बलदेवजीको स्वरूप हें और जिनको 'श्रीविट्ठल' कहत हें ते नंदानंद जो फलरूप श्रीकृष्ण ते हें. अब दोउ स्वरूपकों कार्य कहत हें. ए वेदपथ विस्तारशे वेदपथ जो मर्यादा ताको स्थापन करेंगे श्रीगोपीनाथजी, और श्रीविट्ठलनाथजी जन आपशे आनन्द, जन जो दैवी जीव तिनकों आनन्द देहिंगे. अथवा दोउ स्वरूपनूके दोई कार्य हें. अथवा ऐसो यह जामें गोपालदासजीकों अंगीकार कियें हें ऐसो वेदपथ जो वेदप्रतिपादित पुष्टिमार्ग ताको दोउ जने विस्तार करेंगे और जन सो अभी जन्ममरण-दुःखित ऐसे जे दैवी जीव तिनकों आनन्द सो अगणितानन्दरूप पुरुषोत्तम तिनकों प्राप्त करेंगे. याको फलितार्थ यह जो वेदप्रतिपादित ऐसे जे स्वमार्गीय सेवादिसाधन ते करवायके जीवनूकों पुरुषोत्तमकी प्राप्ति आप करावेंगे. याहीतें ए वेदपथ विस्तारसे जन आपशे आनन्द यह कह्यो.(वल्लभा.वि.२।२४).

(भाषाटीका)

श्रीगोपीनाथजी जो श्रीमहाप्रभुजीके ज्येष्ठ पुत्र, और श्रीविट्ठलनाथजीके बड़े भाई ते वस्तुतः भक्तिमार्गीय

पूर्ण पुष्टि भगवद्भक्त हें, यथार्थ वक्ता हें. परंतु श्रीगुसांईजीको जगत स्वमार्गीय प्रवाही जीव प्रभृति सब कोई परमेश्वर श्रीकृष्ण नंदकुमार यशोदोत्संगलालित श्रीगोवर्धनोद्धारण सब कहत हें और श्रीगोपीनाथजी आप ज्येष्ठ भाई हें, तातें इनतें सब कोई जगत्के जीव प्रवाही जीव अन्यमार्गीय सब जीव बलदेवजी कहत हें, परंतु कथनमात्र ही हें. श्रीगोपालदासजी कहत हें जो लोग ऐसे कहत हें जो ''श्रीगोपीनाथजी बलदेवजी हें'' कछू मैं ऐसे नहीं कहतहूं. मैंने श्रीगोपीनाथजीको स्वरूप नवमाख्यानमें वर्णन कियो हे, याही प्रकार जाननो. क्यों जो श्रीगोपीनाथजीकूं बलदेवजीको स्वरूप निश्चय करोगे तो श्रीगोपीनाथजीमें दोष आवेगो. जो श्रीबलदेवजी तो शेषावतार हें, तातें विभूतिरूप हें. सो गीतामें कह्यो हे ''**अनन्तश्च अस्मि नागानाम्**'' (भग.गीता १०।२८) और मर्यादामार्गमें पूर्ण भक्त ये ही प्रकार जलभेदग्रन्थमें कह्यो हे ''**पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः**'' (ज.भे.१४) इत्यादि वाक्यनूतें ये मर्यादाभक्त हें और श्रीगोपीनाथजी तो पुष्टिभक्त हें. येही प्रकार नवमाख्यानमें कह्यो हे ''सुखदाता लघुभ्रातनाँ'' और ''प्रगट्या पुरुषप्रमाण'' सो यथार्थवक्ता जो महापुरुष पुष्टभगवद्भक्त हें. और इनके अनुग्रहतें श्रीगुसांईजीकी प्राप्ति होय हे, तातेंहू यह निश्चय होय हे जो पुष्टभक्त हें. जो ये मर्यादाभक्त होते तो इनकी कृपातें श्रीविट्ठलेशप्रभुकी प्राप्ति सर्वथा ही वर्णन न करते. तातें मूर्ख लोग जे हें ते ऐसे कहत

हें. और श्रीविट्ठल श्रीगुसांईजी तिनकों सब जगत् 'नंदनंदन' कहत हें याको भावार्थ ये हे के जे श्रीकृष्ण श्रीनंदरायजीके घर प्रगट होंयगे वा श्रीविट्ठल नंदानंद, श्रीविट्ठल कैसे हें सो कहत हें के जो सारस्वतकल्पमें जिनने नंदनंदनरूप धारण करिकें अनेक रासलीला करी तेही मूल स्वयंभू साक्षात् उत्तरदलाख्य विप्रयोगात्मक श्रीकृष्ण मुख्य वृन्दावनचंद ते श्रीविट्ठलेश प्रभु प्रगट होंयगे. अब ये श्रीविट्ठलेश श्रीगुसांईजी प्रगट होयके कहा करेंगे? सो कहत हे ए वेदपंथ जो ये श्रुतिरूपा गोपी तिनको पंथ जो मार्ग ताको विस्तार करेंगे, और जन आपशे आनन्द, जन जो श्रीहृषिकेशदास, श्रीनागजीभाइ, श्रीभइला कोठारीजी, श्रीचाचाजी, श्रीगोपालदासजी प्रभृति अंतरंग पुष्टिपुष्टि भक्त तिनकूं अगणितानन्द विप्रयोगानन्द ऐसे जो निज स्वरूपांतर्गत लावण्यानन्द हास्यानन्द वचनानन्द अधरसुधानन्दादिक आनन्ददान करवेकेलिये आप प्रगट होंयगे.(वल्लभा.२।२४).

सिद्धम् एतावता प्रायशः सर्वैरपि वल्लभाख्यानव्याख्याकृद्भिः मूढोक्तितया निरस्तम् अर्थं स्वीकुर्वन्नयं वाचाटः पशोरपि पशुः पुष्टिमार्गसिद्धान्तबोधशून्यः स्वयम् अन्धन्तमोनिरयाधिकारी अन्यानपि तथा कारयितुं वांछति इति.

यत्तु ''अन्यद् भगवद्(? त्!)सन्मुखे अनवसरे च गीयमानपदश्रवणेन स्पष्टं स्याद् मानसे तव'' इति आत्मविकत्थनप्रायः प्रलापः तत्र मृतवैष्णवानां 'काढीभेटा'ऽपहरणाय अनुष्ठितेन पाषण्डेन मिथ्याभिक्लृप्ते षष्ठान्ववायगृहेऽपि

मिथ्याभिक्लृप्तषष्ठगृहीयकीर्तनप्रणाल्यां तावत् श्रीगोपीनाथजन्मोत्सवे प्रातःसेवायां १० पदानि जन्माष्टम्युत्सवगेयान्येव उपलभ्यन्ते. तदनु मध्याह्नसेवायां ८ पदानि, ततश्च सायं-शयनभोगदर्शनसेवयोरपि पदद्वयं श्रीमन्महाप्रभुपरं पदत्रयं च पुरुषोत्तमनन्दकुमारपरम् एवमेव गीयन्ते. अतोहि एवम् उल्लेखात् श्रीगोपीनाथचरणे परब्रह्मपुरुषोत्तमभावाभावे च **''योऽन्यथा सन्तम् आत्मानम् अन्यथा प्रतिपद्यते किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा''** (महाभा.१।६८।२६) इति वचनोक्तं निजात्मापहारित्वं किमयं वाचाटाग्रणी स्वपूर्वपुरुषेष्वपि द्योतयति नवा! द्योतयति चेद् तदा धिक् त्वां भूतलभारभूतम्!

यत्पुनः श्रीहरिरायविरचितनामावल्युदाहरणफटाटोपो विजृम्भितः, तत्र श्रीहरिरायाणामेव वचनान्तरे ''श्रीवल्लभसुत प्रथम प्रकटे... पुष्टिपथ करन काज प्रकटे हें भूमि आज, गावत सब व्रजजन मिल मंगल बधाई'' इत्यत्र 'पुष्टिपथ करन' इत्युक्तेः श्रीगोपीनाथावतारकार्यं तैरेव घण्टाघोषेण श्रावितमेवेति तेन सोऽयं फटाटोपो भृशम् उन्मर्दितोऽप्येव. सैषो घोषः आसुरभावबधिरवाचटकर्णयोः नापि प्रविशेत् चेद् ननु आसुरत्वादेव तयोरपीति न चित्रम्!

४.पुनश्च ''नच अस्मिन् पंक्तौ('अस्यां पक्तौ'इति अनुक्त्वा 'अस्मिन्'इति प्रयोगः स्वस्वभावानुपातिप्रामादिको भाति) अग्रे 'पूरणपुरुषप्रमाण' इति उक्तत्वात् पूर्णपुरुषोत्तमत्वं वाच्यं त्वया मन्दमतिकेन रे! 'लघुभ्रातानां' इत्यस्यैव तद्(अत्र मन्दमतिकेन वाचाटेन पूर्वपक्षिणा स्वयं 'तद्'पदम् अपार्थकमेव प्रयुक्तं भाति)विशेषणत्वाद्'' इति यत् प्रलपितं तद् असाम्प्रतं, यतः सम्प्रति चतस्रो व्याख्याः प्राचीनविदुषाम् उपलभ्यन्ते तासु न कोऽपि व्याख्याकारः एतादृशम् अर्थम् विवक्षितं मनुते उपोद्बलयति वा.

तथाहि :

[१]तत्र प्रथमं तावद् व्रजाभरणीयायां "'पूरणपुरुष' परन्तु प्रमाणमार्ग स्थापन अथवा तिनके पुत्र पुरुषोत्तम जे वेदमार्गके स्थापक तातें ज्येष्ठ सर्वश्रेष्ठ" (वल्लभा.व्रजाभ.९।३) इति प्रतिपादनेन अग्रजतत्सुतान्यतरपरमेव विशेषणं वर्णितम्.

[२]श्रीजीवनेशाचार्यकृतायां विवृतावपि "'पूर्णपुरुष' जो सर्वगुण करिके परिपूर्ण संकर्षणव्यूहात्मक् ओर 'प्रमाण' ते मर्यादास्थापक. अथवा 'पूर्णपुरुष' जे प्रभु तिनके प्रमाणज्ञान करायवेवारे" (वल्लभा.श्रीजीव.विवृ,९।३) इति सर्वांशे बलभद्रसाम्यनिरूपणेन अग्रजपरत्वमेव नानुजपरत्वं विशेषणस्यास्य व्याख्यायाम् एतस्याम् इति सुस्पष्टम्.

[३]श्रीरमणजीकृतायाञ्च "'पुरुष' जे मनुष्य तिन जैसी आकृति जिनकी, अथवा, 'पुरुष' जे भक्तनके अन्तर्यामी वा श्रीपूर्णपुरुषोत्तमके मुखारविन्दके अधिष्ठाता विरहाग्निरूप पुरुष तिनके स्वरूपके बतायवेवारे श्रेष्ठ भक्त. क्यों जो आपके स्वरूपके बतायवेवारे प्रमाण तो श्रेष्ठ भक्त ही हें अथवा पुरुषोत्तम जे भक्त तिनके प्रमाणतुल्य हे स्वरूप जिनको अथवा प्रामाणिक पुरुष जे भक्त ते ही प्रगटे हें" (तत्रैव) इत्यादि विवेचनेन यथाकथञ्चिद् अग्रजान्वितमेव उक्तं विशेषणम् अंगीकुर्वन्ति.

[४]विद्वद्वरेण्यैः श्रीव्रजरायैस्तु स्वीयभावदीपिकायां वाचाटस्य कोलापानसमीरितपदोद्गारिमुखस्य महामौढ्यं सुविशदम् आविष्कृतमिति तदपि दृष्टिसात् करणीयमेव "कनिष्ठभ्रातुः सुखदाता पुनः पूर्णपुरुषः पुरुषोत्तमः.

पूर्णं ब्रह्म प्रमाणरूपः शब्दब्रह्मरूपः च. अत्र अयं भावः : श्रीगोपीनाथोऽपि यथा श्रीविट्ठलो नवीनघनवद् गाढगाम्भीर्यगुणवान् पूर्वं निरूपितं तथैव. अथः श्रीगोपीनाथस्य मूले विशेषणं 'घनवान्' इति उक्तम्. अन्यथा शुक्लत्वं वदेत् 'तौ शुक्लकृष्णौ' (भाग.पुरा.१२।८।३३) इत्यादिः भागवतवाक्यात्. 'श्रीगोपीनाथ'नामतु यौगिकं नतु रूढं लोके 'नरसिंहा'दिनामवत्. किञ्च भगवतो द्वौ असाधारणौ धर्मौ - मानं मेयः च इति अन्येतु साधारणाः. अतो असाधारणं धर्मद्वयम् अंगीकृत्य भगवान् स्वयं रूपद्वयेन प्रकटो जातः, 'धर्म-धर्मिणोरभेदः' इति प्रभुचरणैः विद्वन्मण्डने निरूपितम्. अत्र प्रमाणरूपेण ज्येष्ठो अभूत् प्रमेयरूपेण कनिष्ठः, प्रमाणात् प्रमेयसिद्धिः... तस्मात् कनिष्ठभ्रातुः सुखदाता. पुनः कीदृशः पूर्णपुरुषः पुरुषोत्तमरूपः प्रमाणरूपः. श्रीगोपीनाथस्तु अन्तः प्रमेयरूपः उपरि प्रमाणरूपः. श्रीविट्ठलो अन्तः प्रमाणरूपः उपरि प्रमेयरूपः... अपरञ्च पूर्वं श्रीमाणेकचन्देन उक्तं 'बालक सब ब्रह्म जानिये जाको वेद विमल जस गाये' (वसन्तधमारे बिलावलरागे 'श्रीलक्ष्मनकुल गाईये') इत्यनेन श्रीलक्ष्मणभट्टकुले श्रीवल्लभमारभ्य श्रीघनश्यामान्ताः ये पूर्वोक्ताः ते सर्वएव ब्रह्मरूपाः इति अर्थो, अन्यथा मूले पूर्णपुरुषत्वं न वदेत्. तेन न कोऽपि शंकावसरः. अपरञ्च वर्तमानकाले कुतर्कशास्त्रकलिलान्तःकरणरूपाः पुष्टिमार्गे केवल कथनमात्रोर्ध्वपुण्ड्रलिंगेन प्रविष्टाः ये जीवाः ते स्वहृदयस्थासुरभावेन श्रीगोपीनाथं मर्यादारूपं वदन्ति.

ननु पुष्टिमार्गीयजीवानां कथम् आसुरभावप्रवेशः ? इति चेद् उच्यते श्रीमत्प्रभुचरणैः 'निवेदनन्तु स्मर्तव्यम्' इति श्लोकटीकायां 'सर्वदा' इति पाठे कालापरिच्छेदः तत्र उच्यते. अन्यथा तदैव आसुरभावप्रवेशः स्याद् इति भावः' इति उक्तमिति श्रीहरिरायचरणैरपि शिक्षापत्रे प्रभुचरणोक्तरीत्या निरूपितम्... आधुनिकास्तु श्रीमदाचार्यचरणोक्तरीत्या न सेवास्मरणे कुर्वन्ति तएव महापतिताश्च आसुराः... तस्माद् भ्रान्तित्वेन बलदेवरूपत्वमेव वदन्ति''(वल्लभा.भावदी.९।३).

इदमत्र मतिमान्द्यदूषितेन वाचाटेन यदि स्वयम् अतृणादः चेद् ज्ञातव्यमेव आसीद् यत् ''शाब्दबोधे चैकपदार्थे अपरपदार्थस्य संसर्गः संसर्गमर्यादयैव भासत''इति ''सुखदाता लघुभ्रातनां'' इत्यत्र 'लघुभ्रातनां' इति सम्बन्धवाचकषष्ठीविभक्त्यान्वितं 'लघुभ्राता'पदं कथन्नु 'पूरणपुरुष'पदेन अन्वीयात् ? **'' 'प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूतः तयोस्तु प्रत्ययः प्रधान्येन' इति अशिष्यम् एतदर्थस्य अन्यप्रमाणत्वात्... यैरपि व्याकरणं न श्रुतं तेऽपि 'राजपुरुषम् आनय' इति श्रुत्वा राजविशिष्टं पुरुषम् आनयन्ति न राजानं नापि पुरुषमात्रम्''** (पाणि.काशि.वृ.१।२।५६) इति स्पष्टीकृत्वाद् 'लघुभ्राता'पदं मध्यपाति-'नाँ'विभक्तिम् उल्लंघ्य कथन्नु 'पूरणपुरुष'पदेन अन्वितं कल्पयितुमपि शक्यम् ? प्रत्ययविशिष्टेन सह अन्वयेतु ''लघुभ्रातनां पूरणपुरुष'' इत्येव अर्थस्ते मनस्तापकरो भवेत्. तत्फलितार्थस्तु त्वादृशमूढजनानां कृते श्रीगोपीनाथचरणानाम् अपूर्णपुरुषत्वेऽपि लघुभ्रातृश्रीविट्ठलनाथचरणानां कृतेतु पूर्णपुरुषत्वमेव संसाधयेदिति न वेत्ति यो मूढः स्वोक्त्यभिप्रायमपि तस्य परोक्ताभिसन्धानप्रत्यवबोधाशा तु दूरापास्तैव! एतेन ''तृणमत्तुं गता मतिः'' इति न्यायो अत्र सर्वथा अवततारेति हन्त!

५.तत्र तावत् संवत्सरोत्सवकल्पलतायां श्रीव्रजराजचरणाः :

आश्विनस्यासिते पक्षे द्वादश्यां करुणानिधिः श्रीवल्लभप्रतिनिधिं गोपीनाथं स्वमात्मजं प्रकृटीकृतवान् स्वस्य स्वरूपज्ञापनाय हि, दयया निजभक्तेषु स्वभक्तानन्दसिद्धये; अतः तत्र उत्सवः कार्यः स्वमार्गस्थैस्तु सर्वथा... श्रीवल्लभप्रतिनिधे! गोपीनाथ! तदंगज! पाहि तद्भक्तिदानेन नमस्ते करुणानिधे!. एवं यः प्रयतो भक्त्या तद्भक्तीच्छुः च सर्वथा प्रत्यब्दम् उत्सवं कुर्यात् स्वाचार्याणां च तुष्टये तस्य श्रीवल्लभाचार्याः प्रसीदन्ति न संशयः, स्वस्वरूपप्रदानेन तिष्ठन्ति च सदा हृदि.

(संव.कल्प.आश्वि.१-८)

इदम् अत्र अवधेयम् : आचार्यत्वन्तु शास्त्राचयन-स्वाचारे स्थापन-शिष्योपदेशपूर्वकतथाकारयितृत्वरूपमेव तद् यदि श्रीमदाचार्यचरणेषु पुष्टिप्रभुस्वरूपज्ञापनपूर्वक-तदावाप्तिसाधनीभूत-पुष्टिप्रपत्तिसमर्पणसेवाभक्त्याद्युपदेशकत्वेन चेत् तादृशस्य स्वरूपादिज्ञापनेन तदात्मजे कुतो न सिद्धचेत्? नच अक्षरात्मक-शेषरूप-बलदेवावतारत्वेन मर्यादारूपत्वादेव तद् अन्यथासिद्धम् इति जल्प्यं, **''यथा नारायणो दास्योपयोगिशय्यादिसर्वार्थरूपत्वेन प्रभोः शेषभावं प्राप्तत्वेन तत्त्वेनैव प्रसिद्धे वेदात्मकत्वेन प्रमाणरूपे शेषे लक्ष्म्या सेव्यमानः क्षीराब्धौ शेते तथा सर्वात्मभावेन दासत्वं प्राप्तत्वेन शेषरूपे अस्मद्हृदये पुष्टिरसप्रेप्सुपेयो अगाधो यो क्षीराब्धिः तत्र शयानत्वेन अन्यत्र गतिरहितो यः तं नमामि''** (सुबो.टिप्प.१०।१।१) इत्यत्र अक्षरात्मकशेषस्य भगवतः पुरुषोत्तमस्य पुष्टिफलरूपनिरोधरूपायां लीलायाम् अत्यन्तोपकारितया पुष्टिरूपत्वमेव प्रभुचरणैरपि अंगीकृतमित्येतस्मादेव हेतोः श्रीव्रजरायाअपि ''दयया निजभक्तेषु स्वभक्तानन्दसिद्धये; अतः तत्र उत्सवः कार्यः स्वमार्गस्थैस्तु सर्वथा'' इति निरूपयन्ति. नचेह मर्यादाभक्तेषु मार्यादिकानन्दसिद्धये प्रत्युत

स्वभक्तानन्दसिद्धये श्रीगोपीनाथं श्रीवल्लभः प्रकटीकृतवान् येन मार्यादिकैः तदुत्सवस्य अवश्यकर्तृकत्वं भवेत्. वाचाटस्तु खलु आसुरजीवत्वाद् श्रीगोपीनाथोत्सवं न चिकीर्षति चेत् तद्वरमेव अन्यथा उत्सवोऽपि दूषितः स्याद्. किञ्च अत्र "'प्रतिनिधि'शब्दस्य तात्पर्यार्थः प्रौढरमायां भट्टोजीदीक्षितैः उक्तम्" इति वाक्ये उद्देश्यविधेयभूतयोः 'अर्थः-उक्त'रूपयोः इति प्रयोगस्तु स्वस्वभावानुपातिकः प्रामादिकएव भाति. अतो श्रीगोपीनाथानां पुष्टिमार्गीयत्वं स्वरूपावतारकार्याधिकारविचारेणैव निश्चप्रचम्. अथ अस्मिन् मंगलाचरणे न स्वहृदस्य शेषरूपता उपपिपादयिषिता किमुत रूपकालंकारोऽयम् इति वाचोयुक्तिं न युक्ताम् उत्पश्यामः, तथात्वे असदर्थप्रतिपादकत्वापत्तेः **"काव्यादीनां न धर्मोपयोगः इति आह काव्यादीनाम् असत्यत्वाद् न उपयोगः कथञ्चन धर्मे"** (त.दी.नि.प्र.२।७९) इत्युक्तेः मंगलाचरणस्यापि असदर्थप्रतिपादकत्वं ध्रुवं स्याद्. वस्तुतस्तु **"गुहायां हृदयाकाशे यद् आविर्भूतं परमं व्योमाक्षरात्मकं व्यापिवैकुण्ठं तस्य पुरुषोत्तमगृहरूपत्वात् तत्र निहितं स्थापितमिव वर्तमानं यो वेद स भक्तो 'ब्रह्मणा'=नित्याविकृतरूपेण 'विपश्चिता'... तेन विविधभोगचतुरेण सह सर्वान् कामान् अश्नुते इति अर्थः. एतेन परप्राप्तिपदार्थः उक्तो भवति, शुद्धपुष्टिमार्गीयत्वाद् अस्य भक्तस्य स्वातन्त्र्यं भोगे उच्यते"** (अणुभा.२।१।११) इति भाष्यसुबोधिन्योः एकवाक्यतानुरोधादपि नात्र रूपकालंकारोक्तिः सम्भवति.

ननु तथापि मर्यादारूप-बलभद्रावतारत्वेन मर्यादात्वन्तु अनिराकार्यमेव इति चेद्, न; "मार्गशीर्षे पौर्णमास्यां श्रीकृष्णावेशधारिणो लीलार्थं जन्म रोहिण्यां शयनस्य विदुः हरेः. तत्र उत्सवो हि कर्तव्यः भक्तैः सावेशिनो हरेः... श्रीकृष्णाविष्ट! हे राम! प्रसीद पुरुषोत्तम! रमय श्रीगोकुलेशं संकर्षण! नमो अस्तु ते. एवं मार्गशिरे कुर्यात् सेवां प्रेमाप्तये प्रभोः यः तम् आत्मप्रदो दद्यात् स्वभक्तिं नन्दनन्दनः" (संव.कल्प.मार्ग.६-१२) इत्यत्र श्रीबलभद्रस्यापि पुष्टिभक्तिमार्गीयता पुरुषोत्तमता पुष्टिफलरूपभगवत्स्वरूपप्रदाय-

कता दृढीकृता. नच आवेशहेतुका सोपाधिकी सा इति जल्पनीयं, सूर्यतनयायां यमुनायामपि चन्द्रावल्यामपि श्रीशक्तेः आवेशस्य अभ्युपेतत्वात् तदवतारत्वेन श्रीमत्प्रभुचरणेष्वपि अपुष्टिमार्गीयता सर्वविनाशकरी आपद्येत. किञ्च अशेषाणां जीवानाम् अक्षरब्रह्मांशत्वस्य अभ्युपगतत्वेन साक्षान्महाप्रभुद्वारकं तत्परम्पराद्वारकं वा च आत्मनिवेदनं वाचाटोक्तहेतुना मर्यादामार्गीयत्वेन अभिमतानां पुष्टिमार्गांगीकृतत्वं साधयति चेत् श्रीमन्महाप्रभुभिः स्वात्मनिवेदने श्रीगोपीनाथानां ''दारागारपुत्राप्त'पदद्योतितं भगवत्सात्करणरूपम् आत्मनिवेदनं कृतं नो वा? कृतं चेत् कथं मर्यादात्वं न कृतं चेत् तत्तु श्रीमदाचार्यचरणे स्वसर्वस्वनिवेदने स्वोक्तानिर्वाहकत्वदोषोत्पादनायैव स्यात्. रे रे मूढ! का ते गतिः भवित्री का ते दिशा मतेः इति क्षणं विचारय.

यत् पुनः ''मुख्याभावे तत्सदृश; उपादीयते'' इति भट्टोजीदीक्षितकृतप्रौढ-मनोरमोक्तेः कुशकाशाववलम्बनं तत्तु श्रीगोपीनाथानां पूर्वपुरुषोक्तस्य श्रीवल्लभप्रतिनिधत्वस्य अन्यथा व्याख्यानमेव. तत्र 'प्रतिनिधि'पदप्रवृत्तिनिमित्ती-भूतो 'मुख्याभावः' उक्तः स कस्य श्रीगोपीनाथपितुः श्रीवल्लभस्य आहोस्विद् अन्यस्य कस्यचन वा? नान्यस्य अप्रसक्तत्वादेव. नापि श्रीवल्लभस्य, यस्माद् श्रीवल्लभाभावो ऐहिकलीलोत्तरकालिको वा स्याद् उत भुवि प्रकटलीलाकालिको वा उच्येत? उभयथापि न तत् ते मूढस्य समाधानाय सम्भवेद्. यतोहि भगवतः तृतीयाज्ञोत्तरे लोकगोचरदेहत्यागे श्रीवल्लभस्य अभावो न केनापि त्वादृङ्मूढव्यतिरेकेण स्वमार्गे स्वीक्रियते. केनचित् त्वादृशेन स्वीक्रियमाणेऽपि श्रीवल्लभोत्तरकाले ज्येष्ठपुत्रएव श्रीवल्लभस्य उत्तराधिकारिता सिद्धा भवेदिति श्रीवल्लभाचार्यप्रतिनिधिराचार्याः खलु श्रीगोपीनाथचरणाः सिद्धचेरन्. श्रीविट्ठलनाथानामपि पुष्टिमार्गाचार्यत्वं तथैव श्रीमदाचार्यचरणप्रतिनिधितयैव नान्यथा यतो, **''नमः पितृपदाम्भोजरेणुभ्यो यन्निवेदनाद् अस्मत्कुलं निष्कलंकं श्रीकृष्णेन आत्मसात्कृतम्''** , **''पदाम्भोजरजोमहत्त्वम् आचार्यमाहात्म्येनैवेति तदसाधारणमाहात्म्यम् आहुः**

'यन्निवेदनाद्' इति. येषां प्रसिद्धानां सर्वत्र निजाचार्याणां साक्षादाविर्भूते भगवति भावात्मके पुरुषोत्तमे पुरःस्थिते कृष्णसात्कृतप्राणानां 'निवेदनं'= सर्वसमर्पणं तस्मादेव साधनान्तराभावेऽपि समर्पणविषयत्वेन 'अस्मत्कुलम्'= अस्मत्सजातीयसमूहरूपम् अखिलं 'निष्कलंकम्', कलंकः साक्षात्पुरुषोत्तमास-म्बन्धित्वं... जीवानाम् अक्षरांशानां तद्द्वारैव पुरुषोत्तमसम्बन्धयोग्यत्वात्'' (ललितत्रिभंगस्तो.व्या.१) इति श्रीमत्प्रभुचरणकण्ठोक्ततया श्रीहरिरायकृततद्-व्याख्यानतोऽपि एवमेव सिद्धत्वाद् भक्षितेऽपि लशुने शान्तस्ते व्याधिः. अथ श्रीमदाचार्याणां भुवि विद्यमानतायां क्वचिद् देशविशेषे अवस्थानप्रयुक्तो इतरदेशेषु यो अभावः तत्प्रयुक्तः चेद् श्रीगोपीनाथानां प्रतिनिध्याचार्यत्वं तत्तु समकालिकतया तदाज्ञाप्रयुक्तत्वाभावे नैव सम्भवेदिति तदाज्ञाप्रयुक्तत्वापत्ति-मुद्गरः परमुखध्वंसोत्साहिनस्ते मस्तकमेव शतधा चूर्णीकरोति. ''नच भाष्यरश्मौ मंगलाचरणे ''पितृचरणोदितसरणौ साकारब्रह्मस्थापिकायान्तु आदिमूर्तिभजनेषु प्रतिनिधीन् श्रीविट्ठलान् नमामि'' इत्यत्रापि प्रौढमनोरमोक्ततातपर्यार्थएव इति वाच्यं, प्रधानत्वाद् मुख्यभावाभावात् 'प्रतिनिधि'शब्दस्य अत्र अर्चा इति अर्थः. आराध्यभगवद्विग्रहम् इति यावत्. 'प्रतिमानं प्रतिबिम्बं प्रतिमा... अर्चा पुंसि प्रतिनिधिः'इति अमराद्'' इति यद् उन्मत्तवत् प्रलपितं तत्र समाधानायापि किञ्चिद् वक्तव्यं त्रपाकरमेव भाति. तथापि आसुरोक्तिनिरसनेन अन्येषां हृदि इत्थम्भूताः हि आसुरभावाः स्थानं वा प्रवेशं वापि न लभेयुरिति कृत्वा किञ्चिद् विलिख्यते : तथाहि प्रभुचरणश्रीविट्ठलनाथाः किं पाषाणादिमूर्तिरूपाएव न साक्षात् मनुजाकाररूपाः? अपिच किं द्वितीयगृहीयस्य 'श्रीविट्ठलनाथ'पदाभिधेयस्य भगवद्विग्रहस्य पिता साकारब्रह्म-स्थापक-श्रीमदाचार्यचरणमहाप्रभुः अस्ति? अस्ति चेद्, मैवं न कस्मादपि हेतोः, कुत्रापि च इत्थम् अवर्णनादपि. नास्ति चेत् तथा अभिप्रेतार्थकरणेन को विशेषः सम्पद्येत? अमरकोशवचनेन तदुपोद्बलनन्तु नभसि करवालसञ्चालनमौढ्येन दुरदृष्टवशाद् आत्मापहारकाय स्वकण्ठकर्तनायैव पर्यवसितं स्याद्!

६.यदपि उक्तं ''नचापि ज्येष्ठात्मजत्वेन धर्मशास्त्रैरेव प्राधान्यम् इति वाच्यं, पुष्टिमार्गगुरुविषयाभावात्वाद् धर्मशास्त्राणाम्'' इति तत्तु स्वमहामौढ्याविष्कारात्मकमेव. कुतः ? इति चेत् किं श्रीमदाचार्य-प्रभुचरणयोश्च आर्हतादिवद् बाह्यमताचार्यत्वं मनुषे ? चेद् एवं तर्हि एतन्निरूपणं स्वस्यैव सहजासुरत्वसाधकं भवेद् इति हन्त! नच निरनुयोज्यानुयोगो वा अनुक्तोपालम्भननिग्रहपातो वा आशंकनीयः, यस्माद् वाचाटहृदि श्रीमदाचार्यज्येष्ठात्मजविषयिणी दिद्रहोयिषा अन्तर्निगूढा न चेत् नोक्तं स्याद् ''तथापि ते सन्तुष्ट्यचै 'सर्वेऽपि धर्मयुक्ताः भागिनो. यस्तु अधर्मेण द्रव्याणि प्रतिपादयति ज्येष्ठोऽपि तम् अभागं कुर्वीत' इति आपस्तम्बधर्मसूत्राद् ज्येष्ठस्य प्राधान्यम् अनभिमतम् आपस्तम्बस्य(अपार्थकप्रयोगो वाचाटस्य!)'' इति वाक्यमपि प्रयोक्तुं समर्थो नैव भवेद् स्वयम् यदि अतृणादो न स्यात्. यस्मात् किमिह श्रीगोपीनाथानाम् अधर्मेण द्रव्यप्रतिपादकत्वं विवक्षितं नवा ? विवक्षितत्वे दिद्रोहयिषुता सिद्धैव. नोचेद् एतदापस्तम्बवचनेन श्रीगोपीनाथानां प्राधान्यम्, अधर्मेण द्रव्याप्रतिपादकत्वाभावेनैव स्वतोनिरस्तं स्यादिति उभयतःपाशारज्जुः. अपिच एकत्र ''अस्य मार्गस्य अलौकिकत्वाद् अत्रस्थः सर्वोऽपि विषयो भिन्नएव'' इत्युक्तिः अपरत्र प्रौढमनोरमाकारोक्तेः अस्मिन् विषये प्रमाणतया उपन्यासो ''मम माता वन्ध्या''इतिवत् स्वतोव्याहता. इतश्च ब्रह्माण्डपुराणोक्तेरपि मूढाभिमते अलौकिके मार्गे प्रामाण्यं नैव आवहेत्. इति कथम् अत्र एते वचने प्रामाण्यपदवीम् आरोढुं समर्थे भवेताम्! प्रतीयते इहतु स्वारूढशाखोच्छेदनात्मकं निजात्मघातिवैदुष्यमेव अनावृतं तावत्!

तस्मात् :

रे रे मूढमते! मदान्धनयन! पश्यन्नपश्यन् स्वयं
प्राक्तनकर्मवशात्तु वल्लभकुले जातोऽपि नो युज्यते।
श्र्याचार्यात्मजद्वेषभावभरतो वाचाटवृन्दाग्रणी
स्त्वज्जनको न तथापि द्रुह्यसि कथं श्रीविट्ठलस्याग्रजम्?॥

७.ततः ''तेजो यस्य विराजते स बलवान्'इति न्यायेनैव सर्वैरपि आप्तैः श्रीमद्विट्ठलनामहाप्रभुचरणानामेव प्राधान्यम् अंगीकृतम्'' इत्युक्तौ श्रीमत्प्रभुचरणानां यत्किमपि प्राधान्यं स्वस्वरूपकृतं चेत् तत् तथैव तिष्ठतु. नचैतावता पुष्टिमार्गीयाचार्यत्वे आधिक्योद्भावने कोऽपि हेतुः उद्भावयितुं शक्यते. वस्तुतस्तु वाचाटप्रपितामहप्रकाशिते पुरुषोत्तमपुरिस्थ-ताडपत्र-प्रतिचित्रात्मके हि ग्रन्थे :

> ''परमभागवत परम वैष्णव श्रीश्रीश्रीवल्लभाचार्यकुलोद्भव श्रीमद्गोपीनाथाचार्य गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमक्षेत्रमें गजपति महाराजके सामने धर्मव्याख्यान देते हुवे (शिरोपा) शिरस्त्राण लेकर सम्मानित हो रहे हैं... इसी समय श्रीवल्लभाचार्यके शिष्य गोपीनाथ आचार्य आये. वह परमभाग्यशाली पुरुष थे... राजा परम सन्तोषसे उन्हें जुलुसके साथ मन्दिर ले गये. उनसे वेदान्त सुना. इस धर्मग्रन्थको श्रवण कर सब मुग्ध हुए... राजाने कहा आप गुरु हो... राजाने कहा कुछ भूमि ग्रहण कर यहां मठ स्थापित करें. उन्होंने जवाब दिया हम कहीं ओर जायेंगे. हमें वित्तसे क्या प्रयोजन! हमें श्रीगोकुलचन्द्रने सब कुछ दिया है...'' , ''ऐसे वल्लभाचार्यके शिष्य पुरुषोत्तमाचार्य आये. 'वे श्रेष्ठ हैं' ऐसा दूतोंने राजाको कहा. राजाने कहा इनके कुलगुरुओंको हम जानते हैं. इसी सम्प्रदायके गोपीनाथ आचार्य आये थे... वे बोले हम गोकुलचन्द्रकी उपासना करते हैं''.
> (श्रीमहा.वल्लभ.तथा वंशजोकी जगदीशयात्रा पृ.१५-२३).

इति मिथ्याभिक्लृप्तेन षष्ठगृहेण प्रकाशिते ग्रन्थे तत्प्रामाण्यादेव श्रीमन्महाप्रभोः पश्चात् श्रीगोपीनाथानां तदनु श्रीपुरुषोत्तमानां तत्पश्चात् चतुर्थकोटौ श्रीमत्प्रभुचरणानाम् पुष्टिमार्गाचार्यत्वं सिद्धयतीति स्वभ्रातृव्यापेक्षयापि अवरम् आचार्यत्वं साक्षान्नन्दनन्दनरूपाणां श्रीमत्प्रभुचरणानां लक्ष्यते. तथाच श्रीगोपीनाथानाम् आचार्यत्वं न मया किमुत त्वत्प्रपिताहाभ्युपगतो राद्धान्तः. पठ पठ रे मूढ! :

> ''अपने पितृचरणकी भांति आपश्रीने भी पुष्टिसम्प्रदायके पूज्यपाद आचार्यके नाते तथा धार्मिक प्रचारार्थ समग्र भारतकी दो बार पृथ्वीपरिक्रमा की. श्रीयदुनाथदिग्विजयके अनुसार संवत् १५८७ में संन्यासग्रहण करनेसे पूर्व श्रीमहाप्रभुजीने अपने उत्तराधिकारीके रूपमें श्रीगोपीनाथजीको आचार्यपदपर स्थापित किया''.
>
> (जगदी.यात्रा.ताड़प.भूमि. पृ.१२) इति.

तेन स्वप्रपितामहचरणानपि महादुर्बुद्धे! किम् ''अविवेकिनो महामूढाः चौराः आत्मापहारिणो मोहमयपापिनः पुष्टिमार्गमुख्यफलानधिकारिणो मनुषे नवा?

वस्तुतस्तु भाष्यप्रकाशकाराअपि श्रीगोपीनाथनमनानन्तरं श्रीमत्प्रभुचरणनमनं कुर्वन्तः **''श्रीवल्लभप्रतिनिधिं तेजोराशिं दयार्णवं गुणातीतं गुणनिधिं श्रीगोपीनाथम् आश्रये. श्रीविट्ठलेशपादाब्जनखचन्द्ररुचः सदा''** (अणुभा.प्रका.१।१।१।५-६) इत्येवमेव वस्तुवृत्तान्तं द्योतयन्ति. यस्माद् ते तु जानन्त्येव **''गुणातीतास्तु ये भक्ताः पुष्टिमार्गेण ते स्थितौ - पुष्टिमार्गीयत्वाद् गुणातीतभक्तानाम्''** (त.दी.नि.३।५।९३) इति श्रीमदाचार्योक्तं तथापि

तद्गृहपरम्परायां जातोऽपि अहंकारविमूढतया वाचाटवठरोऽयं न जानाति ननु प्रवाहिकासुरत्वादेव. एतेन यत् श्रीमद्हरिरायमहानुभावैः ''श्रीवल्लभकुलके बालक सबे, सबही एक स्वरूप, छोटो-बड़ो न जानिये सबही अग्निस्वरूप'' (वल्लभसाखी ६६) इति यत् प्रतिपादितं तत्र आयुःसम्बन्धाद्युपाधिकृतयोः ज्येष्ठत्वलघुत्वयोः सत्त्वेऽपि सम्प्रदायाचार्यत्व-गुरुत्वोपाधिभ्यां ज्येष्ठावरत्वे न भवतः इत्येव तेषाम् आशयः प्रतिभाति. नोचेत् सम्प्रदाये अस्मिन् वाचाटदृशाः पुत्राः स्वीयपितृनपि नो नमेयुः. तस्माद् अक्षरपररूपदृष्ट्या उभयोः भ्रात्रोः तारतम्येऽपि आचार्यत्वे तारतम्यं नावबोद्धुं शक्यते.

८.यदपि वार्तासाहित्यप्रामाण्याद् अपभणितं ''तस्मात् चतुरशितिवार्ताग्रन्थे पुष्टिमार्गादिभक्तवर-श्रीदामोदरदासेभ्यः 'जैसे तू मोकों जानत हे तैसे इनको स्वरूप जानियो' इति श्रीमदाचार्यैरेव कण्ठरवेण आज्ञप्तत्वात्, श्रीगोकुलनाथप्रभुचरणैः ग्रथितत्वात्, श्रीहरिरायचरणैः भावप्रकाशव्याख्यानेन सुदृढीकृतत्वात् च; श्रीविट्ठलनाथमहाप्रभूणां पूर्णपुरुषोत्तमत्वे न कोऽपि शंकावकाशः सताम्'' इत्यादिकम्. तत्तु अप्रस्तुतविषयोपन्यासएव. यतः को ब्रूते श्रीमत्प्रभुचरणानां पूर्णपुरुषोत्तमत्वं नास्तीति. तेषां तथात्वेऽपि श्रीगोपीनाथानां निजमार्गे स्वाग्रजापेक्षया द्वितीयकोटौ अग्रजतिरोधानानन्तर-समवाप्ताचार्यत्वमेव नतु स्वाग्रजाग्रिमाचार्यत्वनिरपेक्षं स्वतोवा अवाप्ताचार्यत्वम्. सान्दिपनेः आश्रमे उपनयनानन्तरं विद्योपार्जनाय गतस्य पूर्णपुरुषोत्तमस्य श्रीकृष्णस्यापि तावद् न आचार्यत्वं किन्तु सान्दिपनेरेव आचार्यत्वं, यद्यपि जीवकोटिको हि सान्दिपनिः मुनिः अथ श्रीकृष्णस्तु पूर्णपुरुषोत्तमोऽपि सन् तच्छिष्यएव.

वस्तुतस्तु वार्तासाहित्यस्य प्रामाण्यविषये प्राचां बहूनां वाचाटप्रपितामहप-र्यन्तानामपि ऐकान्तिकप्रामाण्यमतिः नैव आसीत्. तथाहि : तत्र तावद् श्रीगोविन्द(कामां)प्रभुणा स्वकीये 'उपदेशसुधा'ख्यग्रन्थे यत् प्रतिपादितं तत्

शृणु **''स्वाचार्यैः श्रीविट्ठलेशैः तथा श्रीपुरुषोत्तमैः कृतान् श्रीहरिरायाद्यैः ग्रन्थान् श्रीद्वारकेश्वरैः संस्कृतान् प्राकृतान् पश्येत्... तदनुसारेण विचारेण सुचारुणा... मूलग्रन्थाऽविरुद्धो अंशो भाषाग्रन्थेषु दृश्यते मान्यो, नान्यो अत्र मान्यो हि, ज्ञेयो असौ धूर्तकल्पितः''** (उप.सुधा.१६१ - १६४) इति एतदेव सर्वैः अकामैरपि अभ्युपगमनीयं, ननु संस्कृत-प्रकृतग्रन्थयोः सर्वविधविरोधाभासपरिहारायैव. पुनः तदात्मजानां श्रीदेवकीनन्दनानामपि कण्ठोक्ताज्ञा च प्रकाशिता उपलभ्यते : ''केवल प्राकृत ग्रन्थनके उपर अवलम्बन न करनो. कारण मैंने(गोवर्धनदासने) प्रथम-प्रथम चौरासी वैष्णव और दोसौ बावन वैष्णवन्की वार्ता छपवायको विचार कर गोस्वामिवर्य आचार्यकी सम्मति पूछी. तब उनने आज्ञा करी जो प्रथम तो यह वार्ता ठीक हती परन्तु पाछेंते लेखकनने अपनी लिखाईके लोभसूं मनमें आवे तैसो गपोड़ा लिख-लिख पुस्तक बढ़ाये ग्रन्थ बड़े-बड़े कर केवल द्रव्य उपजायवेकी साधन कर दिये हें. तद्वत् जैसे उन गपोड़ान्को भरोसो नाहि राख्यो जाय... और टीकाकार अपनो ही टट्टु चलावे हें सो ग्रन्थको रूपान्तर होय एकको दूसरो सिद्धान्त होय जाये. तातें संस्कृत पढ़नो ही ठीक हे. एसी आज्ञा सुनते ही मैंने वो ग्रन्थ छपायवेको मनोरथ छोड़ दियो (बृहत्स्तोत्रसरित्सागरस्य प्रथमसंस्करणे सं.१९४१तमे वर्षे प्रकाशिते गोर्वधनदास-लक्ष्मीदासकृतायां भूमिकायां पृ.११).

एतद्ग्रन्थप्रस्तावनायां देवकीनन्दनाचार्याणां (कामां) श्रीजीवनलालमहोदयानां (काशी) जीवनेशाचार्याणां (पोरबन्दर) श्रीविट्ठलेशानां (पोरबन्दर) श्रीघनश्यामलालमहोदयानां (मुम्बई) श्रीनन्दकुमारशास्त्रिणां विद्वद्वरेण्यानां श्रीगोवर्धनभट्टगट्टुलालोपनामकानां सम्मतिद्योतकानि हस्ताक्षराण्यपि राजन्ते.

नडियादमंन्दिरविवादे सम्प्रदायविज्ञतया प्रदत्ते साक्ष्ये वाचाटप्रपितामहैः श्रीव्रजरत्नलालमहोदयैरपि एषैव व्यवस्था उररीकृता. तेन अविरुद्धांशस्यैव

प्रामाण्ये सर्वैः नैर्भर्यं स्वीकर्तव्यं, न विरुद्धांशानां वार्तास्थवचनानामिति अकिञ्चित्करैव एषा वाचाटवचोयुक्तिः.

९.तस्माद् वाचाटविभाषितं ''पुनश्च निर्गुणभक्तेषु यथा श्रीदामोदरदासचरणाः तथैव श्रीनागजीभट्टाः सगुणभक्तेषु श्रीमद्विट्ठलनाथाचार्याणाम् एके इति भावप्रकाशे अस्मत्स्वामिनः श्रीहरिरायचरणाः'' इत्यारभ्य मध्ये ''श्रीनागजिभट्टचरणा... तुम लरिकाके पास जाइके नाम पाओ इति श्रीमदाचार्यचरणाः ऊचुः... तदा श्रीमत्प्रभुचरणैः अंगीकृतम्'' इत्युक्त्वा पश्चाद् ''अत्र भावप्रकाशो दर्शनीयो अत्यलौकिकज्ञानदश्च 'श्रीगोपीनाथजी मर्यादा बलदेवजीको अवतार हें' इति 'मर्यादा'शब्द(? !)शब्दमर्यादाम् अर्थं च अज्ञात्वैव त्वया न पुष्टिमार्गप्रवर्तकाचार्यपुत्रत्वात् कुतो मर्यादा? इति परमान्धेन परमबधिरेणापि च परमवाचालेन नच वाच्यं, तत्र गणितानन्दकत्वादेव अक्षरब्रह्मणो 'मर्यादा'शब्दप्रयोगे तवैव मनस्तापः'' इत्यन्तं यद् भषितं तत्तु दत्तोत्तरमेव एतावता निरसनभागेन.

१०.तथैव पुनः सिद्धान्तविरुद्धवार्तोपन्यासः ''आसुरव्यामोहलीलानन्तरमपि श्रीदामोदरदासेभ्यः श्रीमदाचार्यैः स्वात्मजश्रीमद्विट्ठलनाथानां चरणोदकं नित्यं पेयं तदा भावप्रकाशोऽपि अत्यलौकिकः सुन्दरो विराजते. तत्र 'श्रीगोपीनाथजी श्रीआचार्यजीके बड़े पुत्र यद्यपि श्रीगुसांईजीके बड़े भाई हें परन्तु काहू वैष्णवने चरणोदक नाहि लियो. या भावते श्रीगुसांईजीके सात बालक और वल्लभकुलके चरणोदकमें श्रीआचार्यजीको भाव जनायो. तासों चरणोदक लेनो दण्डौत करनो, यह सिद्धान्त जनायो' इत्यादिकम् अवलोकयित्वा क्व कोऽपि सन्देहः सताम्'' इति रेभनं तदपि सिद्धान्तविरुद्धत्वादेव सद्भिः सर्वथा अनादरणीयमेव.

११.यत्पुनः उच्यते ''श्रीवल्लभविट्ठलेशाचार्ययोः अभेदः सम्प्रदायविदः

तद्दासाः जानन्त्यपि न त्वमेव रे! गीतञ्च आशावरीरागावल्यां (इह 'रागावल्यां' प्रयोगः चिन्त्यएव 'आवलि/ली'शब्दः श्रेणौ सजातीयसमुदायेन कृतपंक्तौ'' इति वाचस्पत्ये एतत्पदार्थस्य उक्तत्वेन, तथाभूतार्थेन च अर्थविशेषाधानाभावात् च स्वस्वभावानुपाती प्रामादिकएव प्रयोगः प्रतिभाति) च ''श्रीमद्वल्लभके घर प्रभु जो फिर अवतार न धरते हो. तो हम सरिखे मूढ़ पतितजन कहो कैसे निस्तरते हो... रुचिर रूप बलिदास नारायण तृषित नयन क्यों ठरते हो'' इति तत्तु अपार्थकम् अनुक्तोपालम्भनत्वाच्च हेयमेव.

१२.वाचाटविटाग्रणीः पुनरयं श्रीहरिरायचरणकृतव्याख्यायाः अवलोकनं विनैव यत्किमपि निर्मूलानल्पकल्पनाजल्पितम् अत्र लिलेख इति हन्त! ''श्रीहरिरायमहाप्रभुचरणैः श्रीमहाप्रभोः अष्टोत्तरशतनामावल्यां च तृतीयं नाम 'श्रीगोपीनाथजनकाय नमः' इत्येव उक्त्वा अग्रे तुरीयं नाम 'श्रीविट्ठलेशे स्वाखिलमाहात्म्यस्थापकाय नमः' इति नाम उक्तं तेन 'स्ववंशे स्थापिताशेषमाहात्म्यः' इति सर्वोत्तमस्तोत्रोक्तनामापि व्याख्यातम्'' इति. अत्र प्रकाशितायां सर्वोत्तमव्याख्यायां तैः महानुभावैः स्वकण्ठेन किम् उक्तं तदेव अवधारणीयम्. तथाहि ''स्ववंशे स्थापितम् अशेषं स्वमाहात्म्यं यैः इति अर्थः... तथा अत्रापि तद्वंशत्वेन माहात्म्यम् अस्त्येव परन्तु स्वमाहात्म्यं पुरुषोत्तमात्मकं (तु) स्थापितम् (एव) इति भावः. 'अशेष'पदेन तत्कृतनिवेदनानन्तरं सर्वेषां तथैव स्वस्य तल्लीलात्मकस्वरूपादिसाक्षात्कारो भवति इति भावः'' (सर्वो.श्रीहरिरायकृतभाववर्धिन्यां ६४) इति निजकण्ठोक्तो भावस्तु श्रीप्रभुचरणाभिप्रायकत्वे कथं संगतं स्याद्? सर्वथातु ''श्रीवल्लभकुलके बालक सबे, सबही एकस्वरूप छोटो-बड़ो न जानिये सबही अग्निस्वरूप'' (वल्लभसाखी ६६). इति स्वकीयां वल्लभसाखीमेव अनुसरति. न पुनः वाचाटवचोविन्यासदौष्ट्यम्.

यच्च शिक्षापत्रोदाहरणं ''श्रीकृष्णः श्रीवल्लभाचार्यः तथा श्रीविट्ठलेश्वरः

तथा लीलास्थसामग्री नैतत्साम्यं कदाचन'' इति राराजते'' इति, तत्रापि यद् महाप्रभुः लीलास्थसामग्रीस्वामिनीविषये प्राहुः तदेव विशेषतो अवधारणीयं भवति : **''यदा भगवान् स्वशक्तिरूपेण आविर्भूतः तदा शक्तीनां मध्ये श्री प्रथमा. सा शरीरएव बलवत् पूर्वं स्थिता. यदा भगवान् प्रभुत्वेन आविर्भूतः तदा सापि भोग्यत्वेन आविर्भूता भार्येव. तद् आह 'रूपिणी' इति. सापि सच्चिद्रूपा स्वार्थम्. तस्याः शरीरन्तु ब्रह्मानन्दरूपम्. अतएव 'उरुगायपादयोः विभूतिभिः मानं करोति' इति. साहि अक्षरस्य आनन्दरूपा''** (सुबो.२।९।१३) इति लीलासामग्रीस्वामिन्याः अक्षरानन्दरूपत्वेऽपि यदि पुष्टिमार्गीयम् अनन्यसाम्यं राद्धान्ततया स्वीकृतं चेत् तदा धर्मिणो हि अक्षरब्रह्मणो वा तदवताररूपिणो श्रीगोपीनाथचरणस्यापि वा कथं मर्यादामार्गीयत्वं भवेदिति कोलापानसमीरितपदोद्गारिमुखेन अनुरागेण भृशं तप्तेऽपि मनसि किं न स्थिरीकरणीयम्?

१३.अथ यद् आह ''**'प्रभु'**पदप्रयोगोऽपि श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरणेष्वेव न तज्ज्येष्ठभातृश्रीगोपीनाजिच्चरणेषु आप्तैः कृतः.. तद् उक्तं श्रीमत्प्रभुचरणविरचितसेवाविधिव्याख्यायाम् आदावेव **'प्रभु'**पदं श्रीमदाचार्यपरं श्रीमत्प्रभूत्सवः''- इति. तत्र प्रथमं तावत् तवैव मनस्तापकरं रश्मिकारवचनं शृणु ''अथ पीठकभावना : १.भगवतो... शेषः संकर्षणः शय्यादिरूपः आलम्बनविभावव्यूहत्वात्'', ''२.षट्सु औत्संगिकस्वरूपेषु तेषु च अन्यरूपेषु गुणोपसंहारलीलां अतिदिशन्ति एवंविधानेकलीलारूपैः तद्भावभाविताः सेवयेद् अन्यथा तु स्याद् अपराधो न तत्फलम्... श्रीबालकृष्णजित्स्वरूपम्'' (रश्मिपरिशिष्टे श्लो.७, १५) इति. अथ रामनवम्यनन्तरं ''श्रीप्रभूत्सवः... यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ इति श्वेताश्वतरश्रुतेः आवश्यकः.. 'आचार्य मां विजानीयाद् नावमन्येत कर्हिचिद् न मर्त्यबुद्ध्या असूयेत सर्वदेवमयो गुरुः' इति भगवद्वचनात्. अत्रापि 'प्रभौ परिवृढः' इति पाणिनिसूत्रात् परिवृढसमानाधिकरण**'प्रभु'**पदोपदानम्... अतः प्रभूत्सवः इति उक्तम्.

आचार्यत्वञ्च नूतनमार्गप्रवर्तकत्वम्'' (रश्मिपरि.) इति प्रतिपादयता रश्मिकारेणापि पुरुषोत्तमत्वव्याप्तं तद्व्यापकं वा आचार्यत्वं न स्वीकृतम्. नच श्रीगोपीनाथानां नूतनमार्गप्रवर्तकत्वाभावादेव न मूलाचार्यत्वम् इति वाच्यं तत्तु श्रीमदाचार्यचरणानामपि समानमेव **''अर्थोऽयमेव निखिलैरपि वेदवाक्यैः रामायणैः सहित भारतपञ्चरात्रैः अन्यैश्च शास्त्रवचनैः सह तत्त्वसूत्रैः निर्णीयते सहृदयं हरिणा सदैव''** (त.दी.नि.१।१११) इति अंगीकृतत्वादेव न सिद्धचेद् मूलाचार्यत्वम्. यदितु न केवलं नूतनमार्गप्रवर्तकत्वम् अपितु निगमागमशास्त्रेषु नूतनभाष्यलेखनेन आचार्यत्वं अभ्युपेयते तच्च श्रीवल्लभविट्ठलयोरेवेति तदुभयपर्याप्तं पुष्टिमार्गाचार्यत्वम् न श्रीगोपीनाथे सम्भवति इति चेत् तदपि श्रीमदाचार्यलिखितभागस्य तिरोधानेन तन्मतम् अनुसृत्य तदंशपूरकत्वादेव न पुनः नूतनभाष्यकर्तृत्वेन श्रीमद्विट्ठलनाथानामपि. तादृशं लुप्तांशपूरकत्वन्तु श्रीगोपीनाथानामपि साधनदीपिका-सेवाभावनाश्लोकादिविलेखनेन किं न नास्ति? यदि श्रीगोपीनाथानाम् मूलाचार्यत्वं केवलं भाष्याऽकर्तृत्वेन निषिद्धचते चेत् तत् श्रीविट्ठलनाथेऽपि समानमेव बाधकं भवेद् श्रीवल्लभोद्भावितार्थभिन्नार्थ-प्रतिपादकताभावादेव. दीयमानेषु वचनेषु देववद् गुरावपि बुद्धिकरणीयतायाः उपदेशात्तु न पुरुषोत्तमत्वप्रयुक्तम् आचार्यत्वं सम्भवदुक्तिकं भवेत्. नापि अत्र श्रीमत्प्रभुचरणाः विवक्षिताः इति साम्प्रतम् आचार्योत्सवस्यैव विवक्षितत्वात्.

१४.यत् पुनः अपभाषितं ''ननु श्रीगोपीनाथजिच्चरणानामपि एतन्मार्गाचार्यत्वं वाच्यं तवापि प्रियश्रीगोपेश्वरजिच्चरणैरपि श्रीगोपीनाथजिदुत्सवः कुतो न उक्तः, इति चेद् न; ब्रह्माण्डपुराणे सप्तसप्तत्यध्याये मथुरागोकुलाद्युक्तं 'तत्राहं मुहुः तं रूपं सर्वलोचनगोचरं करिष्ये विमलं सौम्यं मम भक्तसुखावहं विट्ठलेशेति विख्यातिं गमिष्ये जगती तले' इति वाक्येभ्यः'' इति तद् मुद्रिते संस्करणेतु बहुशो अन्विष्टेऽपि नोपलभ्यतइति तत्र किं प्रतिवक्तव्यम्?

१५.अन्ते ''श्रीगोपीनाजिद्भिः स्वयमपि सेवाभावनायां 'श्रीवल्लभो जयति भक्तहितैकबन्धुः आविश्चकार तनयं किल विट्ठलं यः तस्यैव पादयुगलं सततं नमामि. प्रेम्णा तदस्तु हृदये मम सर्वदैव' इति

आहुः('श्रीगोपीनाथजिद्भिः... आहुः' इति तृतीयाविभक्तिप्रयोगेण 'आहुः' इति परस्मैपदि कर्तरि प्रयोगस्तु स्वस्वभावानुपातिप्रामादिकएव प्रतिभाति) इति तत्र ज्येष्ठस्य कनिष्ठकृते नमनम् आयुःक्षीणकरं भवतीति श्रीगोपीनाथमहोदयाः न स्वानुजं नमन्ति किमुत यत्तदोः नित्यसम्बन्धाद् यो भक्तहितैकबन्धुः श्रीवल्लभो विट्ठलं तनयम् आविश्चकार तस्यैव वल्लभस्य पादयुगलम् अहं श्रीगोपीनाथसंज्ञो नमामि इत्येव अन्वयः चारुः नान्यथा. श्रीवल्लभाविष्कृततनयत्वन्तु स्वस्यापि स्वानुजसाधारणमिति स्वस्यापि उपलक्षणरूपमेवेति श्रीरश्मिकाराअपि उररीकुर्वन्ति. तथाहि ''भक्तानां हितश्च असौ एकबन्धुः. विशेषणप्रतिपादनार्थं ज्येष्ठभ्रातरो अनुजस्य स्वनामापि गृहीतवन्तः'' इति अग्रेऽपि श्रीगोपीनाथानां मर्यादामार्गीयत्वाभावप्रतिपादकं ''ग्रन्थकर्तुः श्रीगोपीनाथजितो भक्तिमार्गीयत्वेन अग्निपुत्रत्वेऽपि 'ऋषिरग्निकुमारस्तु' इति वाक्याद् भ्रातुः ग्रन्थकर्तुः ऋषित्वेऽपि, मन्त्रत्वं नास्ति श्लोकानाम् आचार्यकर्तृत्वाद्'' (रश्मिपरि.) इति वचनं देदीप्यते.

अतएव मुख्यपुष्टिमार्गाचार्यत्वेन त्रयोऽपि श्रीवल्लभगोपीनाथविट्ठलनाथाः विजयन्तेतमामिति न कोऽपि शंकापंकावलेशोऽपि ईषद् इति शम्.

इति मूढमतेरस्य वल्लभवर्त्मजातस्य।
दुर्वाङ्मयमुखरोधो ह्यनुग्रहात् प्रभोः कृतः॥
इत्थं पूर्वपक्षरचनाशक्ततयाधमर्ण्यम्।
मामकं ज्ञापयञ्चात्र विरमामि मुदान्वहम्॥

सकलान्तरात्मा श्रीहरिः प्रसन्नोऽस्तु!

इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण विरचितः
श्रीगोपीनाथाचार्यत्वसंशयध्वंसवादः
समाप्तिम् अगमत्

॥ आचार्यरत्न श्रीविट्ठलेश तथा हमारा संप्रदाय॥

श्रीविट्ठलेश प्रभुचरणके अष्टोत्तरशत नामोंमें एक नाम है **''पितृप्रवर्तितपथप्रचारसुविचारकः''** (नामर.स्त्रो.१२) श्रीमदाचार्यचरण द्वारा प्रवर्तित शुद्धाद्वैतसंप्रदाय या पुष्टिमार्ग का प्रचार जिस सुविचारित रूपसे प्रभुचरणने किया वह संप्रदायके इतिहासमें एक निरतिशय गौरवमय अध्याय है. फिर भी न जाने क्या बात है कि इस विषयमें अनेकविध भ्रान्तियोंके सेवनका व्यसन कई लोगोंमें देखा जाता हैं. जहाँ-तक अन्यान्य निमित्तोंको ले कर इस विषयमें मूढ़ाग्रहोंका प्रचलन हो जाता है तो कुछ भी कथनीय नहीं रहता, किन्तु संप्रदाय-परम्परा और सिद्धान्त-मर्म के अपेक्षित ज्ञान बिना जब इनका प्रकाशन होता है तो भ्रमप्रक्षालन हमारा कर्तव्य हो जाता है. आइये, आज प्रभुचरणके प्रादुर्भाव महोत्सवपर हम यह देखें कि प्रभुचरणसे संप्रदायका क्या सम्बन्ध है!

सम्प्रदायके आचार और विचार दोनों पक्षोंको जिस तरह प्रभुचरणने समृद्ध किया है इसके प्रत्यक्ष उदाहरण साम्प्रदायिक भगवत्सेवाप्रकार और आपके द्वारा विरचित मूल विवृति या टिप्पणी आदि रूपसे अनेक ग्रन्थ मिलते ही हैं. इनका महत्त्व तो स्वानुभवैकवेद्य ही है.

कुछ लोग यह मानते चले आये हैं कि जो स्वरूप और सिद्धान्त सम्प्रदायका श्रीमदाचार्यचरण घड़ रहे थे उसमें और श्रीप्रभुचरण द्वारा घड़े गये स्वरूप और स्वातंत्र्येण व्याख्यात आचार्य सिद्धान्तोमें, अन्तर पड़ गया. इस विषयमें प्रायः प्रभुचरण द्वारा प्रवर्तित सेवाप्रकारको अन्यथा बताया जाता है. क्या वास्तवमें आचार्याभिलषित स्वरूप और प्रभुचरण प्रवर्तित प्रकार में कोई भौतिक अन्तर है? परन्तु इस प्रश्नको छेडने मात्रसे एक जिम्मेदारी हम पर यह आती है कि हम अपने मार्गमें भगवत्सेवाका प्रयोजन महत्त्व तथा स्वरूप समझनेका कष्ठ उठायें.

यहां जो दो छोर विचारोके सामने आते हैं उनको समझें अर्थात् एक जीव दृष्टिसे और दूसरा ब्रह्मदृष्टिसे. ये सब प्रश्न वस्तुतः दार्शनिक पृष्ठभूमि पर ही उत्थित तथा आधृत होते हैं, इस पर भी लक्ष्य देना होगा. हमारे यहाँ ब्रह्मको विरुद्धधर्माश्रय माना गया है. श्रुतिमें भी तो कहा गया है **''अजायमानो बहुधा विजायते''** (तैत्ति.आर.३।१३।१) यही विरुद्धधर्माश्रय ब्रह्म **''यद्यद् धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय''** (भाग.पुरा.३।९।११) इस श्रीमद्भागवतमें कहे गये प्रकारसे जब, जैसाकि वसुदेव-देवकीको दिया था, वचन देता है कि **''युवां मां ब्रह्मभावेन पुत्रभावेन चासकृत्, चिन्तयन्तौ कृतस्नेहौ यास्येथे मद्गतिं पराम्''** (भाग.पुरा.१०।३।४५) तब ब्रह्मदृष्टिसे सेवाका ही विधान हो रहा है. जब वह ब्रह्म किसी भी लौकिकभावसे, चाहे पुत्रभाव सखाभाव या अन्य कोई ही से, भावित होना स्वीकार कर लेता है तो अन्य सभी आनुषंगिकताओंको भी निर्वाह करना पडता है. प्रायः उसे पुत्रभावसे भावित होनेपर उसे वस्तुतः भूख प्यास नींद ही नही अपितु बच्चोंकी तरह बिल्लीसे भी डर लग जाता है और इस लीलामें उपेक्षाभाव रखनेपर वह रुष्ट भी होता है. यही तो वह ब्रह्मानन्दकी मीमांसा है जिसे तैत्तिरीयोपनिषद्में **''भीषास्माद् वातः पवते भीषोदिति सूर्यः भीषास्माद् अग्निः च इन्द्रः च मृत्युः धावति पञ्चम इति सैषानन्दस्य मीमांसा भवति''** (तैत्ति.उप.२।८) कह कर आरम्भ तो की, परन्तु अन्ततः कहना पड़ा **''यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह''**(तैत्ति.उप.२।९).

पुष्टिमार्ग यह है और यहां इस पुष्टिस्वरूपके सुखका विचार ही पुष्टिजीवका कर्तव्य है. यही इस **''यो वै भूमा तत्सुखम्''** (छान्दो.उप.७।२३।१) में कहे गये परब्रह्म तथा **''अहम् आत्मा आत्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि''** (भाग.पुरा.३।९।४२) में कहे गये परमात्मा और **''कृषिः' भू वाचकः शब्दः 'ण'श्चनिर्वृतिवाचकः तयोः ऐक्यं परब्रह्म कृष्णः इति अभिधीयते''** (गो.पू.उप.१।१) में कहे गये सच्चिदानन्दरूप

श्रीकृष्णके प्रति **''न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति''** (बृह.उप.२।४।५) में कहे गये सहज स्नेहप्रयुक्त कर्तव्यनिर्वाहको सम्प्रदायमें 'भगवत्सेवा' कहा जाता है. यह ब्रह्मदृष्टिसे सेवाका स्वरूप तथा प्रयोजन है क्योंकि निष्काम भी ब्रह्म पुष्टिमार्गीय अंगीकृत जीवोंसे स्वसेवा आदिकी कामना करता है. अतएव तो एक अन्य प्रसंगमें श्रीशुकदेवजीने कहा **''आत्मारामोप्यरीरमत्''** (भाग.पुरा.१०।२६-।४२).

जीवदृष्ट्या भी सेवाको सम्प्रदायमें **''फलं वा साधनं यत्र''** (पु.लक्ष.१) कह कर फलरूप ही माना है. अतएव (१) प्रमाण (२) प्रमेय (३) साधन और (४) फल के निरूपक (१) एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतं (२) एको देवो देवकीपुत्र एव (३) मन्त्रोप्येकः तस्य नामानि यानि (४) कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा. इस कारिकामें 'कृष्ण' नामघटित अष्टाक्षर और ब्रह्मसम्बन्धमंत्र रूपी साधनोंकी फलरूपा सेवाका चतुर्थ-फलकी कोटिमें वर्णन किया है. इन दोनों मंत्रोका मुख्य प्रयोजन समझने भरसे जीवदृष्टिसे सिद्धान्तोंमें सेवाका प्रयोजन महत्त्व तथा स्वरूप समझा जा सकता है.

पुष्टिमार्ग भगवदनुग्रहैकलभ्य है. क्योंकि पुष्टिजीवत्वेन वरण, मार्गरुचि, मार्गप्रवेश, अष्टाक्षर और ब्रह्मसम्बन्ध, या भगवत्सेवाधिकार, सेवा, उससे प्रेमासक्ति-व्यसनपर्यन्तकी विभिन्न कथायें और परमफलतककी सभी अवस्थाओंमें भगवदनुग्रह ही एक ऐसा पदार्थ है जो प्रमुख या प्रधान नियामक या साधन है. अन्य तो सब अवान्तर व्यापाररूपसे ही साधन कहे जाते हैं. इस तरह भगवान्की **''स एकाकी न रमते स द्वितीयम् ऐच्छत''** (महोप.१।१) और **''बहु स्याम् प्रजायेय''** (छान्दो.उप.६।२।३) में कही गयी रमणेच्छासे ही जीवत्रैविध्य बनता है जिनमें पुष्टिमर्यादाप्रवाह भेदसे पुष्टिजीव ही **''अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा**

मनोः अविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्'' (भाग.पुरा.६।११।२६) कह कर सभी आधिभौतिक आध्यात्मिक और आधिदैविक साधनोंके अभिमान या अवलम्बन और उनके विभिन्न फल, जो भगवत्प्राप्तिरूप फलसे अतिरिक्त हैं, की कामनासे रहित हो केवल प्रभुको ही अपना शरण या काम्य मान कर त्रिविध साधनहीनताको तीन बार भगवदैकशरणतासे घोषित करता है **''श्रीकृष्णः शरणं मम''** यही अनन्याश्रय है जो पुष्टिजीवका प्रथम कर्तव्य है जिसका कृष्णाश्रयमें आधुनिक जीवोंके सन्दर्भमें सुस्पष्टरूपेण निरूपण किया गया है.

किन्तु; सबसे बडा एक प्रश्न रह गया है उस परमानन्दकी प्राप्ति का. उसमें प्रतिबन्ध है जीवका अविद्यासे बद्ध होना अर्थात् संसार. सिद्धान्तमें इस अहंताममतात्मक संसारका बन्धन जीवको आनन्दांशके तिरोधानसे अविद्यासंसर्गके होनेसे होता है. इसी अहंताममतात्मक संसारके कारण वह स्वाभिलषित फल नहीं प्राप्त कर पाता है. इसीको **''क्रीडार्थम् आत्मनः इदं त्रिजगत् कृतं ते स्वाम्यन्तु तत्र कुधियो पर ईश कुर्युः''** (भाग.पुरा.८।२२।२०) से कहा गया है. ब्रह्मात्मक प्रपंचको जब हम अहंताममतात्मक बना देते हैं तो मूलतः अविद्याने हमारी 'धी' यानि बुद्धिको कुत्सित कर दिया होता है. हम यह भूले हुवे हैं कि जो कुछ प्रिय प्रतीत हो रहा है वह तो किसी और के ही प्रिय होनेके कारण है जो उन सभी दृष्यमान प्रियवस्तुओंका अन्तर्यामी मूलकारण है. इस हमारी ममता या स्नेह के विभिन्न द्वैतोंमें बंट जानेके कारण ही तो **''द्वितीयाद् वै भयं भवति''** (बृह.उप.१।४।२) कहा गया है. जब हम इस भयंकर तथ्यको जान लेते हैं तब हमें अविद्याके (अन्तिम) पर्व, स्वरूपविस्मृतिका विरोधी स्वरूपस्मरण होता है कि न कुछ मेरा है और न कुछ मैं हूँ. जो है वह तो **''सर्वं खलु इदं ब्रह्म''** (छान्दो.उप.३।१४।१), **''तद् ऐक्षत बहु स्याम् प्रजायेय इति''** (छान्दो.उप.६।२।३) **''तत्त्वमसि''** (छान्दो.उप.६।८।१०) **''ममैवांशो जीवलोके''** (भग.गीता १५।७) है. सारा अहंताममताका बिखराव अब

यहां आकर ब्रह्म-केन्द्रित हो जाता है. जो कुछ मैं मेरेसे सम्बद्ध था उसका ब्रह्मसे सम्बन्ध हो जाता है. हमें समझमें आता है कि **''स हि आत्मात्मनाम् अत्र प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि अतः तस्मिन् रतिं कुर्याद् देहादिर्यत्कृते प्रियः''** क्योंकि सब कुछ आत्माके प्रिय होते ही तो प्रिय है तो परमात्मा तो हमें परम प्रिय है. हम आश्चर्यचकित और लज्जित हो जाते हैं कि इतनी देर तक आखिर उस परम प्रियको हम कैसे भूल रहें? हम अपने परम प्रियको समर्पित हो जाते हैं. यह 'आत्मसमर्पण' है. निबन्धमें इसे भक्तिका द्वितीयांश कहा है. आचार्यचरण कहते हैं कि भक्ति के दो अंश हैं एक माहात्म्यज्ञान और दूसरा सुदृढसर्वतोधिकस्नेह. शास्त्रके वचन जो भगवन्माहात्म्यका प्रतिपादन करते हैं या जो निखिल दृश्यमान जगत्की ब्रह्मात्मकता अर्थात् तादात्म्य या अभेद या अद्वैत का प्रतिपादन करते हैं उनका प्रयोजन यही अंशद्वय है. भगवन्माहात्म्यको देख कर जीव शरणागत होता है और अपनी ही आत्माके भी आत्माके रूपमें उसे पाकर तो वह समर्पित ही हो जाता है.

आचार्यचरण कहते हैं **''यथाकथंचिद् माहात्म्यं तस्य सर्वत्र वर्ण्यते भजनस्यैव सिद्धयर्थं तत्त्वमस्यादिकं तथा भक्तेः अंशद्वयम्...द्वितीयांशम् आह 'तत्त्वमस्यादिक' तथा कथयति. माहात्यज्ञानपूर्वंस्तु सुदृढ सर्वतोधिकः स्नेहो भक्तिः इति प्रोक्तः तया मुक्तिः न च अन्यथा. 'माहात्म्य'इति. स्नेहो भक्तिः. रतिः देवादिविषयिणी भावः इति अभिधीयते. रतिः स्नेहो, देवत्वं माहात्म्यं, तद् आत्मत्वेन ज्ञाते भवति, तेन भजनार्थमेव आत्मत्वेन तन्निरूपणं माहात्म्यं च उच्यते....तदाविर्भावएव फलं सिध्यति इति आविर्भावार्थं प्रेमसेवां निरूपयन्ति अवज्ञानादि दोषाभावाय माहात्म्यं च सुदृढस्नेहाय आत्मत्वं च आह.''**(त.दी.नि.प्र. १।४१-४२)

यह सब वही पूर्वोक्त ब्रह्मभाव तथा पुत्रभाव दोनोंसे भावित करना अर्थात् सेवाके प्रकारका उपक्रम है अथवा अहंताममताके बिखरावको

ब्रह्मकेन्द्रित करना है. यदि यह नहीं हो पाता तो आचार्यचरण कहते हैं **''अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन असमर्पितवस्तूनां तस्माद् वर्जनम् आचरेत्''** (सि.र.४) क्योंकि **''गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत् त्यक्तुं न शक्यते कृष्णार्थं तन्नियुञ्जीत कृष्णः संसारमोचकः''** (त.दी.नि.२।२५०-२५१) ब्रह्मसम्बन्धसे सभी दोषोंकी निवृत्ति हो जाती है क्योंकि आत्मनिवेदनके बाद ही सबका विनियोग सेवामें किया जा सकता है. इस सारे सन्दर्भमें सिद्धान्तरहस्यकी टीकामें लालूभट्टजीकी यें पंक्तिया दृष्टव्य हैं **''अतो भौतिकी शुद्धिः जलक्षालनादिना, शंखोदकादिना च आध्यत्मिकी शुद्धिः यथाशास्त्रं सम्पादनीया... भगवते समर्पितानां पदार्थानां भगवदुपयोगकरणाभावे अपराधः स्यात्. सामान्यतः समर्पितांना भगवदुपयोगं विना स्वोपयोगेतु महानेव अपराधसमुदाय आपद्येत. अतः सामान्यतः भगवदुपयोगकरणरूप विशेषतः समर्पणं (यही तो हम लोगों के लिये सेवा है) आवश्यकमेव''** (सि.र.लालू.टी.५) यह अन्तिम शुद्धि है.

यहीं आकर भगवत्सेवा रूपी फलके दूसरे साधन या अंग असमर्पितत्यागका स्थान आता है. यही अनन्याश्रय और असमर्पितत्याग दो कर्तव्य या साधन हैं जिन्हें हम दो दीक्षाओंमें सीखते हैं अतएव कहा गया **''निवेदनस्य किं फलम् इति आकांक्षायाम्... 'भक्ति'शब्दवाच्या सेवैव फलत्वेन निर्दिष्टा''** ( ). उसी प्रेमसेवाकी इतिकर्तव्यता सर्वनिर्णयमें **''यद् यद् इष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः, येन स्यान्निर्वृतिश्चित्ते तत् कृष्णे साधयेद् ध्रुवम्''** (त.दी.नि.२।२३६) कह कर दिखलाई गयी है. इस पृष्ठभूमि पर कही गयी सेवाके स्वरूपको देखनेपर, क्या ऐसा बच जाता है जिसे प्रभुचरणने अधिक या अन्यथा कर दिया कहा जा सके! यदि रागभोगशृंगारके राजसी रूपको लिया जाये तो प्रथम तो वह 'यद् यद् इष्टतम'की उक्तिसे ही संग्रहीत हो जाता है और इससे भी स्पष्टतर तथ्य तो वह है जो स्वयं वल्लभाचार्यने **''श्रीकृष्णं पूजयेद् भक्त्या यथालब्धोपचारकैः यथा सुन्दरतां याति वस्त्रैराभरणैरपि. अलंकुर्वीत सप्रेम तथा स्थानपुरस्सरम्''** (त.दी.नि.२।२२९-

२३०) कह कर सुस्पष्ट दिया है. मुझे समझमें नहीं आता कि लोग कैसे कह देते हैं कि वल्लभाचार्यके समय सेवामें भावनाओंकी प्रधानता थी और प्रभुचरणने उसमें क्रियाप्रधानता ला दी या वल्लभाचार्यके निर्गुणभक्तिमार्गको प्रभुचरणने सगुण बना दिया या कठोर 'आचार्यत्व' पर लक्ष्य देनेके बजाय केवल सेवाक्रमका ढकोसला चला दिया. मूलतः इस तरहका प्रभेद करना ही वल्लभाचार्यके सिद्धान्तके बारेमें ज्ञानशून्यताका परिचय देना है. और यदि मान भी लिया जाय कि राजसी सेवाका प्रभुचरण द्वारा प्रारम्भ एक विकृति या स्वयुगानुकूल परिवर्तनके रूपमें हुवा तो भी लिखित आचार्यवचन ही उनका मूल है न कि अन्यथा. वस्तुतः जो कुछ है समर्पणके लिये है वहां न कुछ सात्त्विक है और न राजस. निर्गुणता भी तो आचार्यचरण कृष्ण-सम्बन्धसे मानते हैं और तदतिरिक्त सम्बन्धसे सगुणता. ऐसी स्थितिमें अर्थात् कृष्णसम्बन्धके रहते सेवाको सगुण कहना भी कुबुद्धिविलास है. लक्ष्यमें रखना चाहिये कि प्रभुचरणको **''सर्वानुग्रहकृन्मन्त्रवित्तमः''** (नामर.स्तो.२३) कहा गया है.

'सर्वस्वसमर्पण'का मतलब भी लोग विचित्र-विचित्र लेते है. यद्यपि प्रसंगबर्हिभूत है फिर भी इस विषयमें भी लिख ही देना चाहिये. समर्पणका अर्थ करते हुये श्रीपुरुषोत्तमजीने एक सुन्दर वचन उद्धृत किया है, प्रसंग है दान और समर्पण के प्रभेदका, **''दानं स्वकीयतात्यागः परस्वापादनं विधेः अर्पणं स्वामिभोग्यस्य स्वामिने ज्ञापनं मतम्''** (द्र.सि.र.पुरु.वि.५) यह तो हुआ ब्रह्मदृष्टिसे; किन्तु जीवदृष्टिसे भी विचार किया जाये तो यह तथ्य कभी विस्मृत नहीं करना चाहिये कि हमारे व्यवहारमें कुछ हेय है और कुछ उपादेय. जो लोकतः और शास्त्रतः उपादेय है वहीं हममें ममता जगती है और अतएव वही प्रभुको समर्पित करना है. जो लोकतः और शास्त्रतः हेय ही है वहाँ या तो ममता ही नहीं और इस तरह समर्पणका प्रश्न भी नहीं उठता या मोहवशाद् ममताबुद्धि होती है वहाँ भी वस्तुविचारसे

और जीवमर्यादा अर्थात् स्वामीकी अवज्ञा आदि दोष न हो इस विचारसे समर्पणव्यवस्था होती है. जीवमर्यादा तो यही है. ब्रह्म तो कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं समर्थ है अतः न केवल निःसाधन अपितु दुष्टसाधनसे भी प्रसन्न होना चाहे तो हो सकता है. कामक्रोधलोभ आदि चित्तके विकार शास्त्रदृष्ट्या हेय हैं; किन्तु प्रमेयबलसे उन्हें भी प्रभु सुसाधनकी तरह ही मान लेते हैं. वार्तामें भी आया है कि अपने लोभस्वभावसे विवश जीवकी मानसीसेवाकी तन्मयतासे लोभके ही समर्पणको निमित्त बना कर प्रभु प्रसन्न हो गये. यह जीवमर्यादासे नहीं किन्तु ब्रह्मकी अमर्यादितासे, निष्कृष्टरूपसे सिद्धान्तरहस्यमें कह दिया है **"सेवाकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिद्धयति"** (सि.र.७)

प्रकृत संदर्भमें यह ज्ञातव्य है कि जो हमसे एक त्रुटि हो गयी है वह सेवाके राजसीरूपके कारण नहीं सर्वस्वसमर्पणके लिये सात्त्विक या राजस का भेद नहीं, प्रभुसे सम्बद्ध होने पर सब कुछ निर्गुण हो जाता है. महाप्रभुजीकी आज्ञा है **"तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः"** (सि.र.८) हमारे जीवनका रूप अपरिग्रहका भी हो सकता है और सत्परिग्रहका भी. इनमें एक-दूसरेसे न्यूनता ढूँढना व्यर्थ है. यदि गृहस्थजीवनमें भी अपरिग्रहनियम निभता हो तो बहुत अच्छी बात है यदि सत्परिग्रहनियम निभाना हो तो वह भी उतनी ही अच्छी बात है. बुरी बात है असत्परिग्रह. सदसद्विवेक एक महत्वकी बात है, किन्तु कहना सरल होने पर भी करना और आचारणमें निर्वाह कठिन है. आज हम नहीं पहचान सकते कि हमें जो प्राप्त होता है वह सद् है या असद्, दैवी है या आसुरी! इस सदसद्विवेकके न होनेके भयंकर दुष्ट परिणाम होता है. आज्ञाके बिना असद्द्रव्यसंग्रहसे कभी सब मन्दिरोंकी छतें खोदी गयी थीं और आज नीवें, जो सर्वथा अनभीष्ट है. वार्तासाहित्यमें मिलता है कि दैवीजीवको पहचान कर मार्गपर नाचनेवालीके समर्पण करनेसे भी लीलामें प्रवेश दिया गया पर आज सदसद्विवेकके दुष्कर होनेसे हम किसी भी यहाँ-वहाँ

भटकतीको(नाचनेवालीको) निवेदित नहीं कर सकते. वस्तुतः प्रत्येक श्रेष्ठ वस्तु प्रभुके लिये है यह बुद्धिका उत्पन्न होना एक बडी बात है. ऐसी स्थितिमें कुछ अपरिग्रहकी मर्यादाओंका निर्धारण होना चाहियें था जो नहीं हो पाया.

वल्लभाचार्याका मार्ग त्यागका नहीं है इसका मतलब प्रायः भोग ले लिया जाता है, गार्हस्थ्यके नामपर. किन्तु सिद्धान्ततः भोग, भोगके रूपमें नहीं है किन्तु प्रसादके रूपमें **''त्यक्तेन भुञ्जीथा''**(ईशा.उप.१) जिसका निर्वाह कमसे-कम स्वयं में, किन्तु संभवतः सभी, जली हुई डोरीके रूप या ऐंठन की तरह, कर रहे हैं, डोरीके घटकतत्त्व या द्रव्य के रूपमें नहीं. किन्तु यह दोष तो हमारा है जो हमें स्वीकारना है. प्रभुचरणका इस व्यर्थतासे लेशमात्र सम्बन्ध नहीं ढूंढा जा सकता. दिवान्धको न दीखनेका दोष सूर्यको नहीं जाता फिरभी कुछ है जो अपनी आंखोंको धिक्कारनेके बजाय सूर्यपर रेत उछालना चाहते हैं. वह तो पहुंची कि नहीं यह देखनेके प्रयासमें लोट कर हमारी आंखोंमें गिर और अधिक बिगाड़ कर सकती है.

जहाँ-तक सिद्धान्तके अन्यथाव्याख्यान अर्थात् ऐसी बातें कि वल्लभाचार्यसे प्रभुचरण कुछ अलग गयें हैं, का प्रश्न है इसपर तो सिर्फ इतना कहना है कि एकबार आचार्यचरणके केवल मूलग्रंथ उठाके देखो समग्र रूपसे यानि भाष्य-निबन्ध-सुबोधिनी और अन्य भी. यदि समझ पाये तो यही समझोगे कि या तो विट्ठलेशवाणीसे आचार्योक्ति स्पष्ट हो रही है या इसके बिना लगेगी ही नहीं. वल्लभाचार्यके ग्रन्थोंमें प्रतिपादित साधन-फलसे अतिरिक्त किस साधन या फल का भाष्यके साधनाध्याय या फलाध्याय में निरूपण है जिसे यह आचार्यचरणको अनभिप्रेत है यह कहा जाये? इस बारेमें और कुछ कहना बेकार है. मैंने देखा है कि लोग आचार्यचरणके छोटे-छोटे, सरल किन्तु गंभीर जो एक शैलीमात्र है और प्रभुचरणके सालंकार समासयुक्त

लम्बे-लम्बे वाक्योंको देखते ही भड़क जाते हैं, विधान कर देते हैं कि "फरक पड़ गया." ऐसोंको तो कह देना चाहिये कि 'हां' बहुत फर्क पड़ गया" किसीमें यह कहनेकी बात नहीं है.

कुछ प्रखर विद्वान (?) ऐसे भी हैं जो केवल इन्हीं कारणोंको लेकर कि प्रभुचरणने जो कुछ लिखा है वह मौलिक नहीं, वल्लभाचार्यानुसरण मात्र है, अतः इन्हें आचार्य नहीं मानना चाहिये, वे कहते हैं. यदि वल्लभाचार्यको जा कर कोई यह कहे कि "आप वस्तुतः महान आचार्य हो आपका लिखा हुआ सब क्या ही मौलिक है" तो मैं आपको उनका उत्तर कहे देता हूं, वे कहते "बन्द करो यह प्रलाप, मैं आचार्य नहीं हूं किन्तु यह तो कहो कि मेरे लेखनको तुमने 'मौलिक' कहनेका साहस कैसे किया? मैंने मौलिक नहीं, प्रामाणिक लिखा है, आओ, शास्त्रार्थ करो कि "**वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तत्चतुष्टयम्**" (त.दी.नि.१।७) क्या वही बात नहीं कहते जो मैं कह रहा हूं? किसमें यह साहस है कि कहे मैंने मौलिक लिखा है?"

जहांतक मौलिकरूपसे "**आचिनोति हि शास्त्राणि**" (द्वयोप.३) आदि लक्षण जो 'आचार्यत्व'के दिये गये हैं तो वे तो प्रभुचरणमें भी समानरूपसे जायेंगे यदि वल्लभाचार्यमें उनका जाना स्वीकारें तो. यदि प्रचलित प्रयोगमें एकका 'प्रभुचरण' और अन्यका 'आचार्यचरण' अभिधान होता रहा अतः इस वैषम्यके कारण इन्हें आचार्य न माना जाये तो क्यों न आज ही से मैं अपना नाम श्यामाचार्य प्रसिद्ध करवा दूं? इतना सस्ता ही आचार्यत्व हो तो. वस्तुतः श्रीरघुनाथजीने तो स्पष्ट शब्दोंमें "**आचार्यरत्न**" कहा ही है. अतः ये सब बातें बेकार हैं. सब पुष्टिजीवों पर भगवदनुग्रहका संपादन करनेवाले पंचाक्षर मंत्रके गूढरहस्यको प्रभुचरणसे अधिक कौन जान सकता है! अतएव कहा गया "**आचार्यरत्नसर्वानुग्रहकृन्मंत्रवित्तमः**" (नामर.स्तो.२३). तथ्य

तो यह है कि जैसे वल्लभाचार्य अपने पूर्ववर्ती आचार्यो द्वारा प्रवर्तित सिद्धान्तके इस कालमें स्पष्ट या विशद् व्याख्यान करनेके कारण आचार्य हैं तो प्रभुचरणको भी वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित सिद्धान्तके स्पष्ट या विशद् व्याख्याता होनेसे क्यों न आचार्य माने जायें?

कुछलोग प्रस्थानत्रय या वल्लभाचार्य के अनुसार चारों प्रस्थान पर स्वतंत्र भाष्य करना ही आचार्यत्वका लक्षण मानते है परन्तु स्वीकृत सभी प्रस्थानोंपर यदि श्रीशंकराचार्यने भाष्य लिख दिया तावता यही आचार्यलक्षण नहीं कहा जा सकता. श्रीरामानुजाचार्यने नहीं लिखा है. दूर क्यों जायें, आचार्यचरणका स्वीकृत चारों प्रस्थानोंपर भाष्य कहां है? जहां-तक स्वतंत्र-भाष्यका प्रश्न है तो हम पहले ही कह चुके हैं कि इस शर्तकी यदि कोई मर्यादा निर्धारित हो जाये तो न केवल आचार्यचरण किन्तु श्रीशंकराचार्य प्रभृति सभी आचार्य अपनेको आचार्य न कहलानेका गौरव लेना चाहेंगे. इन डेढ-दो हजार वर्षोमें इन तथाकथित प्रस्थानोंके आधारपर यानि इनके तात्पर्यको प्रकट करनेके दावेके साथ और इस छोटेसे बड़े कालमें ही केवल अपनेसे पहले लिखें गये किसी भी प्रस्थानके भाष्यमें प्रदर्शित न किये ऐसे मतमें शास्त्रतात्पर्यको जो सिद्ध करे उसे आचार्य मान कर यदि प्रभुचरणके आचार्यत्वके निराकरणकी इच्छा हो तो शक्तिभाष्य भिक्षुभाष्य आदि भाष्योंको पढना चाहिये. अव्याख्यातपूर्व मतोंका प्रकाशन प्रस्थानव्याख्यानसे इन्होंने भी किया है. और भाष्यकारत्वेन प्रसिद्ध होनेपर भी 'संप्रदायप्रवर्तक आचार्य' या 'दिव्यविभूति' आदि विशेषण लगा कर जैसा 'आचार्यत्व' कहा जाता है, वैसा इनका नहीं कहा जाता ऐसा युक्तिवाद करते है तो और सब झमेला छोडिये. उन आचार्योंकी क्या व्याख्या दी जाये जो; अनेक पीठोंको, उदाहरणतया कामकोटी, द्वारका, गोवर्धन अहोविल, अदमार, पेंजावर आदिको; वर्तमान कालमें शोभायमान कर रहे हैं? प्रत्येक संप्रदायमें एकही मूल आचार्य होता है और अतः केवल वल्लभाचार्य ही आचार्य हैं यह भी व्यर्थ बात है. कौमुदीमें

आता है **''त्रिमुनि व्याकरणम्''** इसी तरह ''दो आचार्योंवाला'' हमारा भी संप्रदाय क्यों न हो?

कुछ लोग कहते हैं कि वल्लभसंप्रदायके प्रसिद्ध व्याख्याता श्रीपुरुषोतमजी भी केवल वल्लभाचार्यको ही आचार्य मानते हैं यहां तक कि श्रीविट्ठलनाथजीको भी आप आचार्य माननेको प्रस्तुत नहीं हैं. इसके विपरीत कुछ अन्य लोग कहते हैं कि संप्रदायमें **''वस्तुतः कृष्णएव''** (वल्ला.८) कह कर आपके प्रति अनुपम श्रद्धा प्रकट की जाती है और क्योंकि आप उच्चकोटिके भगवद्भक्त भी थे, अतः प्रभुचरणका आचार्यत्व तो निर्विवाद है. परन्तु कुछ ऐसे भी मूर्ख हैं कि इसके विवादमें वे यह कहते सुने जाते हैं कि वल्लभाचार्यके शिष्योंकी निष्ठा वल्लभाचार्यमें भगवान्से भी अधिक थी वैसी प्रभुचरणके शिष्योंकी प्रभुचरणमें नहीं थी अतः इन्हें आचार्य नहीं माना जा सकता. हां, गुरु मान सकतें हैं क्योंकि गुरु आचार्योंकी अपेक्षा अल्प ज्ञान तथा शक्ति वाले होते है, परन्तु ऐसे व्यक्तियोंसे भी जीवकल्याण हो सकता है.

यदि संप्रदायके भाषासहित्यका ही एकबार अध्ययन कोई करे तो व्यक्तिका ऐसी निर्मूल कल्पनाओंको करनेका साहस डिग जायेगा. प्रभुचरणके शिष्य तो दूर किन्तु वल्लभाचार्यके भी शिष्योंमें प्रमुखतम दामोदरदासजीको भी समानासनका प्रकार त्यागना पड़ा क्योंकि आदेश था कि ''इनको मेरा ही दूसरा रूप जानो''. ऐसी स्थितिमें ''येहि तेहि तेहि येहि कछु न संदेह'' कहनेवालोंको कोई कहां तक गिनाये?

संप्रदायकी विद्वत्परंपराने सर्वदा प्रभुचरण और आचार्यचरण को या तो एक ही श्लोकमें समानरूपों या दो स्वतंत्र श्लोकोंमें स्वतंत्र प्राधान्यसे जो वन्दन किया है वह अनितर साधारण है. केवल षोडशग्रन्थपर एक सरसरी निगाहसे देखनेपर देखिये यमुनाष्टककी टीकामें द्वारकेशजी कहते हैं **''नत्वा श्रीवल्लभाचार्यान् करुणारसपूरितान्, श्रीविट्ठलेशांश्च**

विभून् निजेभ्यो बुद्धिदायकान्''(यमुना.द्वारि.मंग.१) बालबोधमें देवकीनन्दनजी प्रथमश्लोकमें आचार्यचरणका वन्दन करके द्वितीय श्लोकमें कहते हैं **''यदाश्रयवतामेव वल्लवीजनवल्लभः प्रसीदति विनोपायैः विट्ठलेशं तमाश्रये''**(बा.बो.देव.प्र.१) इससे अधिक विशेषता और आचार्यत्व में क्या कही जा सकती है? सिद्धान्तमुक्तावलीमें श्रीगोकुलनाथजी तो आज्ञा करते हैं **''यद्वाँछयैव मोक्षान्ताः पुमर्थाः अधरीकृताः स कोपि पितृपादाब्जरेणुः मह्यं प्रसीदतु''**(सि.मु.गोकु.मंग.) इधर श्रीपुरुषोतमजी **''प्रणम्य श्रीमदाचार्यान् प्रभून् श्रीविट्ठलेश्वरान् तत्कृपातो''**(सि.मु.पुरु.मं-ग.१). यहीं लालूभट्टजी, जिनका परिचय संप्रदायके सिद्धान्तके अध्ययन करनेवालोंको देनेकी अपेक्षा नहीं, समानरूपसे आचार्यचरण तथा प्रभुचरण की स्तुति करते हुऐ कहते हैं कि इन दोनोंकी कृपासे ही मनुष्य व्रजाधीशकी सेवाका सौभाग्य प्राप्त कर सकता है. सेवाधिकारसिद्धिमें साधन ब्रह्मसम्बन्धमें इन दोनोंकी कृपाकी अनिवार्यतासे जो स्फुट हो रहा है वह व्याख्यानसापेक्ष है? वे कहतें हैं **''नमामि श्रीमदाचार्यान् प्रभून् श्रीविट्ठलेश्वरान् यत्कृपातो व्रजाधीश सेवनं प्राप्नुयाद् नरः''** (सि.मु.लालू.मंग.२) पुष्टिप्रवाहमार्यादापर तो प्रभुचरणकी कोई विवृति नहीं है, जिससे कोई संदर्भ ढूंढा जाये, फिर भी आचार्यचरणकी स्तुति-परक कोई वाक्यके बिना सीधे केवल प्रभुचरणको नमन कल्याणरायजीने किया है **''श्रीविट्ठलेश्वरं नत्वा स्वेषां सकलसिद्धये''** (पु.प्र.मा.कल्या.मंग.१) ये स्पष्टतः आचार्यचरणसे अभेद या अन्यूनता को लक्ष्यमें रख कर ही संभव हो सकता है. प्राभंजनमारुतशक्तिकार भारतमार्तण्ड श्रीगट्टूलालाजी भी इस परंपराको यथावत् पालते हैं. तृतीय श्लोकमें आचार्यस्तुति कर पंचम श्लोकमें कहते हैं, **''सदालिसेवितौ वन्दे परागमहितौ मृदू अरविन्दरुचां चोरौ चरणौ विट्ठलेशितुः''** (सत्सि.मार्त.मंग.५) ये सब आपाततः दृष्टिक्षेपसे प्रकट होनेवाले तथ्य हैं इनके लिये किसी गुरुके पास बैठ कर धैर्यपूर्वक अध्ययनकी अपेक्षा नहीं अतः कहां-तक इसे गिनायें? प्रतीत होता है पिताको 'आचार्यचरण' कहनेकी प्रथाके चल पड़नेके कारण ही पुत्रको पृथक् परिचयार्थ 'प्रभुचरण' कहनेकी एक

परिपाटी चल पडी होगी. इसका तात्पर्य यहां-तक कैसे खींचा जा सकता है कि इनका आचार्यत्व ही संप्रदायको अभिप्रेत नहीं जबकि श्रीरघुनाथजीने सुस्पष्ट शब्दोमें ''आचार्यरत्न''कहा ही है.

जहां तक श्रीपुरुषोतमजी इनके आचार्यत्वको नहीं मानते यह कहा जाता है तो कहा नहीं जा सकता कि ये पुरुषोतमजी कौन हुये हैं क्योंकि एक श्रीपीताम्बरसुत दशदिगन्तविजयी पुरुषोतमजी हुये हैं इन्होंने तो ऐसा कहीं भी नहीं कहा है. प्रत्युत यमुनाष्टकमें विवृतिके मंगलाचरणके व्याख्यानमें ''**अथ श्रीमत्प्रभुचरणाः श्रीमदाचार्याणां स्वस्य च अवतारप्रयोजनं तत्र श्रीयमुनायाः निर्वाहकत्वाद् अष्टककरणं च अनुसंधाय श्रीमदाचार्यान् प्रार्थयन्ति विश्वोद्वारार्थम् इति. विश्वोद्वारार्थं सदैव, सदैव तदर्थं वा, सदा तदर्थमेव वा कृपयन्तु इति सम्बन्धः श्रीमदाचार्यावतारप्रयोजन्तु 'अर्थं तस्य' इति श्लोकेन, 'सर्वोद्वारप्रयत्नात्मा'इत्यादिसन्दर्भेण च स्वयमेव ज्ञापितं..स्वावतारप्रयोजन्तु स्वनाम्ना विदा ज्ञानेनठान् शून्यान् लाति अनुगृण्हाति इति तदर्थात्**'' (यमुना.पुरु.वि.१) से स्पष्टतया विश्वोद्वार समानरूपेण दोनोंका अवतार प्रयोजन मानते हैं और इससे अधिक आचार्यत्व किस वस्तुका नाम है?

जहां तक सर्वनिर्णय प्रकरणके ''**कृष्णसेवापरं वीक्ष्य**'' (त.दी.नि.२।२२७) इस प्रथमकल्प और दूसरे ''**तदभावे स्वयं वापि**'' (त.दी.नि.२।२२८) वालेमें जो श्रीपुरुषोत्तमजीकी ''**कलेः बलिष्ठत्वेन अग्रिमेषु गुरुलक्षणाभावम् आलोच्य स्वस्मिन्नेव एतन्मार्गीयगुरुत्वं नियछन्तः आहुः 'सचे' त्यादि**'' (त.दी.नि.आ.भं.२।२२८) उक्ति है, उसे ले कर यह कहा जाये कि वल्लभाचार्यसे अग्रिमता प्रभुचरणकी अन्यसामान्य है. अतः पुरुषोत्तमजीके अनुसार इनका आचार्यत्व नहीं है. तो क्या जिस निमित्तिसे आगे आनेवालोंमें गुरुके लक्षण न होनेका विधान किया जा रहा है, यानि, ''कलिके बलिष्ट होने से'' इस निमित्तिके कल्पनालेशकी संभावना ही सही पुरुषोत्तमजी प्रभुचरणके बारेमें भी

कर रहे हैं? ऐसा आत्मधाती दुःसाहस किया जा सकता है? जबकि हम बता चुके हैं कि पुरुषोत्तमजी प्रभुचरणके अवतारका प्रयोजन विश्वोद्धार ही मानतें हैं. ऐसा तथाकथित वदतोव्याघात तो आज हमारे दुर्भाग्यसे हमारे तथाकथित विद्वानोंमें आ गया है वह दशदिंगन्तविजयी पुरुषोत्तमजीमें कैसे हो सकता है?

इससे भी अधिक लक्ष्य देनेकी बात तो यह है कि यह व्यक्ति जो 'आचार्य' और 'गुरु' में "ये आचार्य गुरुओंसे श्रेष्ठ होते हैं, ये गुरुओंके भी गुरु होते हैं, इन आचार्योंकी अपेक्षा गुरु अल्पज्ञान तथा शक्तिवाले होते हैं" यों तारतम्य मान कर भी यहां कहे गये इस गुरुके लक्षण और उसके दुर्लभ होनेकी बातसे प्रभुचरणके आचार्यत्वका निराकरण कैसे कर सकता है? यहां आचार्यलक्षणकी तो चर्चा ही नहीं है और आचार्य और गुरु को अलग माना है. उसे स्वयं आचार्यचरण कहते हैं **"कृष्णसेवापरं वीक्ष्य इति. यो हि गुरुः सेवाम् उपदेक्ष्यति स स्वयं चेत् ताम् उत्तमां जानीयात् तदा स्वयमेव कुतो न कुर्याद् इति सेवापरएव गुरु... सच दुर्लभः इति तेनापि वक्तव्यं प्रकारम् आह तदभावे इति"** (त.दी.नि.प्र.२।२२७-२२८) इस तरह यह प्रकरण आचार्यत्वके लक्षणार्थ न हो कर गुरुत्वके लक्षणार्थ है और मूल आचार्यवचनमें तो केवल दुर्लभता ही दिखलायी है सर्वथा अभाव नहीं.

यहां एक बात यह भी है कि 'तदभावे' यहां सप्तमी विभक्तिका अर्थ है तो 'यदि अभाव हो तो' न कि इन लक्षणोंसे युक्त हो तो भी स्वयं ही प्रवृत्त हो जाये और वल्लभाचार्यके सिवा अन्यको गुरु बनावे ही नहीं, इसका मतलब इन लक्षणोंसे युक्त होनेपर भी अन्यको न बनानें तक नहीं खींचा जा सकता. और ये शर्त भी क्या है? तीन ही तो हैं कि व्यक्तिको (१) कृष्णसेवापर होना चाहिये (२) दंभादि छलसे रहित होना चाहिये (३) श्रीमद्भागवतके

रहस्यका ज्ञाता होना चाहिये. इनमें ऐसी कौनसी बड़ी बात है जो (१) कृष्णलीलारसाविष्ट, अनन्यभक्तहृदय, सर्वस्वदानकुशल, सर्वानुग्रहकृन्मन्त्रवित्तम, भक्तिसेतु (२) महोज्वलचरित्रवान्, धर्मसेतु और (३) श्रीभागवतभाववित् श्रीमत्प्रभुचरणमें सहज ही न हों?

कई लोगोंको यह भी कहते सुना जाता है कि महाप्रभुजीकी सादगीको छोडनेकी शुरुआत श्रीगुंसाईजीने की. प्रायः जो चित्र आज-कल दीखते हैं उनमें एकको सफेद धोती-उपरनामें और अन्यको केसरी धोती-उपरनामें देख कर चमक जाते हैं ये लोग. वस्तुतः ऐसे लोग न तो महाप्रभुजीके आदर्शको समझते हैं और न गुसांईजीके स्वरूपको! मैंने प्रायः देखा है और अनेक बार, कि ऐसे लोग मेरे जैसे केवल धोती-उपरनामें रहनेवालेको कुछ अधिक प्रशंसाकी दृष्टिसे देखना चाहेंगे बजाय उस गोस्वामीके जो बिचारा कर्तव्यपालनमें मेरी तरह प्रमाद न करता हो पर साथ ही साथ मेरी तरह उघाडे बदन भी न डोलता हो.

आदर्श और कर्तव्यनिष्ठा, आचार और विचार या सिद्धान्त और व्यवहार वस्तुतः कौन किसका देख सकता है? प्रायः जो दीखता है वह बाह्य आचार व्यवहार और स्वरूप. सादगीकी भी एक अलग महत्ता है पर सादगी ही सब कुछ नहीं. जनक राजा बन कर भी वीतराग थे. हां, वल्लभाचार्यने **''गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तत् चेत् त्यक्तुं न शक्यते कृष्णार्थं तन्नियुज्जीत कृष्णः संसारमोचकः''** (त.दी.नि.२।२५०-२५१) के आदर्शके अनुसार गार्हस्थ्यको भी भगवत्सेवाका अंग बना कर उसे अत्यन्त गौरवमयरूप देनेका **''लोकवत्तुलीलाकैवल्यम्''** (ब्र.सू.२।१।३३) किया तद्वत् प्रभुचरणने **''धनं सर्वात्मना त्याज्यं तत् चेत् त्यक्तुं न शक्यते कृष्णार्थं तत्प्रयुञ्जीत कृष्णोऽनर्थस्य मोचकः''** (त.दी.नि.२।२५२) के आदर्शानुसार सर्वानर्थमूल धनवैभवको भगवत्सेवाविनियोगसे सर्वार्थ साधक बनानेका **''लोकवत्तुलीलाकैवल्यम्''** किया. दोनों

जगह इस अवस्थाको ऊपर उठा कर सद्रूप देनेका उदाहरण है, आदर्श दोनों जगह सर्वस्वसमर्पण है जो कृष्णलीलैकसर्वस्व है. कहाँ अन्यत्र इस धनवैभवमें ग्राह्यबुद्धि रखेगा किन्तु स्पेन्के ऐनाके बैलकी तरह लाल या किसी भी अन्य रंगकी भडक ही हो तो इलाज भी तो कुछ नहीं है? श्रीमदाचार्यचरणका सिद्धान्त 'जलकमलवत्'का है. जो कमल है वह सुन्दर सरोवर में भी खिलता है और क्षुद्र पोखरमें भी सुगन्ध फैला सकता है. शर्त केवल कमल होनेंकी है.

गतिर्विट्ठलेशे मतिर्विट्ठलेशे रतिर्विट्ठलेशे सदा वै ममास्तु*

---

* श्रीमत्प्रभुचरणके ४५०वीं चरणाटमें आयोजित जयन्ती उत्सव स्मारकांकके लिये चौपन वर्ष पूर्व शुद्धाद्वैत वेदान्तविभागाध्यक्ष श्रीसत्यनारायण मिश्राजीके एतद् विषयक विधानकी समीक्षाके रूपमें.

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥ प्रभुचरण श्रीविट्ठलनाथ और अणुभाष्य ॥

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विट्ठलेश्वरः प्रभुः श्रीमान्।
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति॥

गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरणद्वारा प्रपूरित अणुभाष्यके अंतिम डेढ अध्यायकी शैलीसे असन्तुष्ट वाल्लभ सम्प्रदायके कतिपय आधुनिक अनुगामिओंमें श्रीवल्लभचार्य महाप्रभुके विलुप्त भाष्यको खोज निकालनेकी; और वह न मिल पाये तो महाप्रभुकी शैलीके अनुकरणद्वारा भाष्यपूर्तिका पुनः एक नवीन प्रयास कर लेनेकी महत्त्वाकांक्षा अंगडाई सी लेती रहती है! वह जब तक उठकर हमारे सन्मुख आकर खडी नहीं हो पाती तब तक उसके रूपकी विवेचना तो अप्रासंगिक ही होगी. फिर भी प्रभुचरणकृत भागवतमूलक लेखनपर वाल्लभ सम्प्रदायके प्राचीन किसी भी विद्वान्-व्याख्याताके हृदयमें कभी भी ऐसा भेदभाव जग नहीं पाया उसके कारणोंकी मीमांसा; तथा इस प्रभुचरणपूरित अंशपर किये जाते आक्षेपोंका समाधान हम यथामति करना चाहेंगे.

एतदर्थ हम इन (१) ब्रह्मसूत्रोंके उपजीव्य प्रमाणोंका स्वरूप, (२) सूत्रप्रामाण्यका स्वरूप, (३) सिद्धान्तजिज्ञासाकाल तथा सिद्धान्तनिश्चयोत्तरकालमें व्यवस्थाभेद, (४) अणुभाष्यके उपजीव्य प्रमाणोंका स्वरूप, (५) भागवतप्रामाण्यपर आधुनिक आपत्तिका समाधान, (६) श्रुति तथा भागवत का स्वरूप, (७) गीता एवम् भागवत का स्वरूप, (८) सूत्र और भागवत का स्वरूप, (९) भागवतकी सर्वसन्देहवारकताका स्वरूप, (१०) दशम सुबोधिनी तथा अणुभाष्य, (११) षोडशग्रन्थ तथा अणुभाष्य और (१२) 'अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां' के संदर्भमें भागवतोक्त साधन-फलका

स्वरूप इत्यादि विषयोंकी विवेचना प्रथमतया महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके लेखनके आधरपर देनेका प्रयास करेंगे. तत्पश्चात् **(१३)** आधुनिकोंके आक्षेपोंका समाधान.

(१) सूत्रोंके उपजीव्य प्रमाणका स्वरूप

''अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'' सूत्रद्वारा समारब्ध ब्रह्मजिज्ञासामें जिज्ञास्य ब्रह्मके लक्षण तथा प्रमाण **''जन्माद्यस्य यतः''** तथा **''शास्त्रयोनित्वाद्''** अंशोद्वारा दिये गये हैं. यहां यह उल्लेखनीय है कि औपनिषद ब्रह्म-तत्त्वकेलिए, उसे ''उपनिषद्योनित्वात्'' न कह कर, **''शास्त्रयोनित्वाद्''** पदप्रयोग करना सूत्रकारकी एक विशिष्ट मनोवृत्तिका द्योतक है; और सूत्रकारकी इस मनोवृत्तिका अनुवर्तन सभी भाष्यकारोंने, अन्यथा अनेकविध मतभेदोंके बावजूद, यहां एकमत हो कर किया है.

श्रीशंकराचार्य कहते हैं **''महान् ऋगवेद आदि शास्त्र जो अनेक विद्यास्थानोंद्वारा उपबृंहित है...अथवा यथोक्त ऋग्वेद आदि शास्त्र ब्रह्मके यथावत् स्वरूपको अधिगत करना हो तो प्रमाण बनते है''** (ब्र.सू.शा.भा.१।१।३) यहां **''अनेकविधास्थानोद्वारा उपबृंहित''** की व्याख्या करते हुए भामतीकार कहते हैं कि **''पुराण न्याय मीमांसा आदि दशविध विद्यास्थान मान्य हैं तथा ये वेदके वास्तविक अर्थको समझनेमें उपकारक बनते हैं''** (ब्र.सू.शा.भा.भा.१।१।३).

श्रीभास्कराचार्य भी देवताओंकी विग्रहवत्ताकी सिद्धिकेलिए केवल उपनिषद्वचनोंपर अवलम्बित रहनेके बजाय समग्र शास्त्रोंका अबलम्बन लेते हुए कहते हैं कि मन्त्र अर्थवाद इतिहास पुराणों द्वारा भी अनेक गुण तथा ऐश्वर्यों से युक्त देवता होते हैं, ऐसा समझमें आता है (भा.भा.१।३।३२).

श्रीरामानुजार्य भी कहते हैं कि **''परम वेद्य तो परब्रह्म ही**

है, ऐसे ब्रह्मके साक्षात्कारकी क्षमता रखनेवाले भगवद्द्वैपायन पराशर वाल्मिकी मनु याज्ञवल्क्य गौतम आपस्तम्ब प्रभृति मुनिगणद्वारा प्रणीत तथा विधि-अर्थवाद-मन्त्र-रूप-वेदमूलक, जो इतिहास पुराण तथा धर्मशास्त्र हैं, उनसें उपबृंहित परमार्थभूत अनादिनिधन-अविच्छिन्नपाठसम्प्रदायानुसार ऋक् यजु साम अथर्व रूप तत्तत् शाखावाले वेदको हम जब स्वीकारते हैं तो कहो कि क्या सिद्ध नहीं होगा !...वेद तो अनन्त तया दुरवगाह हैं. अतः परमेश्वरद्वारा नियुक्त परमर्षि तत्तत् कल्पोंमें निखिल जगत्के उद्धारकेलिए वेदार्थका स्मरण कर विधि-अर्थवाद-मन्त्रमूलक धर्मशास्त्र तथा इतिहास-पुराणोंको प्रकट करते हैं'' (वेदार्थसंग्रह).

श्रीमध्वाचार्य भी वेदान्तसम्प्रदायमें मान्य प्रमाणोंकी परिगणना करते हुए कहते हैं कि ''ऋग् यजु साम और अथर्व इन चारोंकी तरह पञ्चरात्र, भारत, रामायण तथा ब्रह्मसूत्र भी स्वतःप्रमाण शास्त्र हैं. इनसे अविरुद्ध होनेपर अन्य भी कोई शास्त्र प्रमाण हो सकते हैं अन्यथा नहीं. इसी तरह जो वैष्णव पुराण हैं वे भी पञ्चरात्रात्मक होनेसे प्रमाण ही हैं. मन्वादि स्मृतियां इन उल्लिखित शास्त्रोंसे अनुकूलतया प्रमाण हैं'' (महाना.ता.नि.१।३०-३२).

''शास्त्रयोनित्वाद्'' अंशकी व्याख्या करते हुए यद्यपि महाप्रभु केवल इतना ही कहते हैं कि ''शास्त्रोंमें ब्रह्मका जगत्कारण होना कहा गया है; और 'शास्त्र' यानि वेद. यहां 'वेद' या 'उपनिषद्' न कह कर जो सामान्य पद 'शास्त्र' प्रयुक्त हुआ है उसका हेतु यह है कि पूर्वकाण्डोक्त सृष्टिनिरूपक वाक्योंका भी संग्रह हो पाये'' (ब्र.सू.भा.१।१।२). इस अधिकरणमें इससे अधिक कुछ भी नहीं कहा गया किन्तु तत्त्वदीपनिबन्धान्तर्गत सर्वनिर्णयप्रकरणमें यह स्पष्टीकरण दिया गया है कि ''वेदकी तरह पुराण भी पूर्वसिद्ध ही ऋषियोंद्वारा प्रकट हुए हैं. अतः वेदत्व पुराणोंमें भी अतिदिष्ट है. अतएव पुराणोक्त धर्मार्थकाममोक्ष और भक्ति नित्य भी हैं और वैदिक काम्यकर्मोंकी

तरह विकृत भी...पुराणोंके अर्थोंको न समझनेपर सर्वथा मूढता ही वैदिक ज्ञानके बारेमें रहती है. अतएव श्रुति-स्मृतिको नेत्रद्वयी और पुराणको हृदय माना जाता है. वेदमें जो यज्ञ आदिका निरूपण हुआ है उसका अभिप्राय भी पुराणोंके कारण ही समझमें आ सकता है. इसी तरह सृष्टिमें जो पदार्थ प्रकट हुए हैं उनका भी वास्तविक स्वरूप पुराणोंके कारण ही समझमें आ पाता है.'' (त.दी.नि.२।४५-५०)

इन सभी उद्धरणोंके विमर्शसे यह सिद्ध होता है कि शब्दशः 'वेद' पदवाच्य न होनेपर भी वेदों और पुराणों में अर्थशः कोई भेद परम्परातः मान्य नहीं है. अतः 'शास्त्र' पदका वेद अर्थ लेनेपर भी, पुराण भी स्वतएव परिग्रहीत हो जाते हैं.

यह मान लेना एक बड़ी भ्रान्ति होगी कि पुराणोंके बारेमें यह धारणा महाप्रभुकी कोई निजी धारणा है. क्योंकि इन ब्रह्मसूत्रोंके उपजीव्य उपनिषदोंमें भी **''नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थः इतिहासपुराणं पञ्चमो वेदानां वेदः''** (छान्दो.उप.७।७।४) जैसे वचनोंद्वारा पुराणोंके बारेमें ये वेदोंमें भी वेद है ऐसी प्रशंसा उपलब्ध होती है.

यद्यपि आधुनिक लेखक इस 'इतिहासपुराण'पदकों अन्य किन्हीं ग्रन्थोंका वाचक मानते है. परंतु प्राचीनतम कृतियोंमें ऐसे किसी ग्रन्थका नामोल्लेख भी न मिलनेके कारण तथा परम्परया इन्हीं ग्रन्थोंकी 'पुराण' संज्ञा प्रसिद्ध होनेसे अन्य पुराणोंकी कल्पना ही हमें तो अप्रामाणिक लगती हैं.

इसके अलावा यत्र-तत्र **''स्मृतेश्च''** (ब्र.सू.१।२।६) **''स्मरन्ति च''** (ब्र.सू.३।१।१४) **''स्मर्यते च''** (ब्र.सू.४।२।१४) जैसे ब्रह्मसूत्रोंमें सूत्रकार भी महाभारत-गीता-पुराण-स्मृतियोंके अनेक वचनोंका प्रमाणत्वेन

अवलम्बन लेते ही हैं. इससे सिद्ध होता है कि पुराणके बारेमें आधुनिक लेखकोंकी धारणा तथा प्राचीन वेदान्तविदोंकी धारणा के बीच बहुत बड़ा अंतराल है. अतएव इस ब्रह्ममीमांसामें जिज्ञास्य ब्रह्मके यथार्थ बोधकेलिए ग्राह्य प्रमाण 'शास्त्र' पदवाच्य है. न कि केवल उपनिषद् या केवल दशोपनिषद् ही, जिनपर आद्य श्रीशंकराचार्यके भाष्य उपलब्ध होते हैं. क्योंकि पूर्वोदाहृत वचनके आधारपर स्वयमेव श्रीशंकराचार्य भी ऐसी आधुनिक धारणाके पोषक नहीं हैं. अतः पूर्वपरिगणित अनेक या सभी शिष्टादृत शास्त्र इस ब्रह्मजिज्ञासार्थ प्रवृत्त ब्रह्मसूत्रोंके उपजीव्य प्रमाणतया मान्य किये गये थे. अतएव ब्रह्मजिज्ञासामें पुराणोंसे परहेज रखनेकी आधुनिक वृत्ति शास्त्रयोनि ब्रह्मके बारेमें नितान्त अशास्त्रीय अर्थात् अप्रामाणिक मनोवृत्ति है यह सिद्ध होता है.

(२) सूत्रप्रामाण्यका स्वरूप

इससे सिद्ध होता है कि जैसे ब्रह्मजिज्ञासा केवल ब्रह्मकी जिज्ञासा न होकर सपरिकर ब्रह्मकी जिज्ञासा है (द्रष्टव्य अणुभा.१।१।१), वैसे ही ब्रह्मजिज्ञासार्थ अवलम्बनीय प्रमाण भी केवल उपनिषद्रूप न होकर सपरिकर उपनिषद् हैं.

यथा

(१) श्रुति जिसमें मंत्रब्राह्मणात्मक वेद तथा उपनिषद्रूप वेदान्तका ग्रहण किया जाता है.

(२) स्मृति जिसमें मनुयाज्ञवल्क्यादि-विरचित धर्मशास्त्र, वाल्मिकीविरचित रामायण तथा वेदव्यासविरचित महाभारत-पुराणोंका ग्रहण अभिप्रेत है.

(३) स्वयं भगवज्ज्ञानावतार सूत्रकार भगवान् वेदव्यासका दिव्य आर्ष ज्ञान भी जो इन सूत्रोंमें प्रकट हुआ है.

(४) पाञ्चरात्र आगम, यदि वैष्णव वेदान्त-सम्प्रदायकी दृष्टिसे विचारें तो, अन्यथा शैवागम भी अवैष्णव शैव वेदान्त-सम्प्रदायकी

दृष्टिसे, तत्त्वनिर्णयार्थ परिकर बन सकते है.

सिद्ध इससे यही होता है कि ब्रह्मरूप प्रमेयकी सिद्धि शास्त्ररूप प्रमाणसे अभिलषित है, केवल उपनिषदोंसे नहीं. सूत्रकारको निज आर्ष ज्ञानके बारेमें भी उसके शास्त्रवत् प्रमाण होनेका जो आत्मविश्वास न होता तो अनेक ऋषियोंके मतोल्लेखके बाद निष्कर्षतया स्वनामोल्लेखपूर्वक स्वाभिप्रायको सूत्रित करनेकी शैली सूत्रकारने न अपनायी होती. अतः स्वयं सूत्रकारके अनुसार ही प्रस्तुत ब्रह्मजिज्ञासामें शास्त्रके अन्तर्गत शास्त्रत्वेन निज दिव्यज्ञान भी प्रमाणतया अभिमत है.

यहां एक गूढ रहस्य नितान्त अवधेय है कि महाप्रभुके मतके अनुसार श्रुतिके अतिरिक्त अन्य किसी भी शास्त्रका ब्रह्मविषयक प्रमाजननरूप व्यापारमें प्राथम्य या स्वातंत्र्य नहीं है. क्योंकि वे सभी श्रुतिवचनोंद्वारा प्रारब्ध प्रमाजनन-व्यापारमें सन्देहवारकत्वेन सहायक अंग ही बनते हैं और यही बात इन ब्रह्मसूत्रोंपर भी लागू होती है. (द्र.ब्र.सू.भा.१।१।२).

(३) सिद्धान्तजिज्ञासाकाल तथा सिद्धान्तनिश्चयोत्तरकालमें व्यवस्थाभेद

एक और रहस्य यह भी है कि सिद्धान्तजिज्ञासाकाल अथवा सिद्धान्तोपदेशकाल में जो प्रमाणव्यवस्था महाप्रभुको मान्य है उससे सिद्धान्तनिश्चयोत्तरकाल या वादकाल की प्रमाणव्यवस्थामें थोड़ा सा तारतम्य है.

जिज्ञासा या उपदेश कालमें महाप्रभु इस प्रमाण व्यवस्थामें कुछ संकोच बोधसौकर्यार्थ प्रस्तुत करते हैं : **''वेद श्रीकृष्णके वाक्य (गीता) मीमांसासूत्र तथा भागवतकी समाधिभाषा ये चारों मिल कर एक प्रमाण बनते हैं. इनमें उत्तरोत्तर शास्त्रको पूर्व-पूर्व शास्त्रोंका सन्देहवारकत्वेन सहायक बनाना चाहिये. इस प्रमाणचतुष्टयीकी एकवाक्यतापन्न** शब्दराशिसे **अविरुद्ध जो भी वचन हों वे प्रमाणतया मान्य किये जा सकते**

हैं. परन्तु विरुद्ध वचन कथमपि मान्य नहीं हो सकते. अलौकिकवस्तु-ज्ञापक शब्द ही स्वतःप्रमाण होते हैं. अलौकिक वस्तुके बारेमें इन वेदादि चारों शास्त्रोंकी एकवाक्यतापन्न शब्दराशि प्रमाण होती है. यद्यपि चारोंमेंसे एक भी कोई शास्त्र प्रमाणतया मान्य हो सकता था परन्तु पूर्व-पूर्व शास्त्रोंमें उठते सन्देहोंका वारण उत्तरोत्तर शास्त्रोद्वारा ही होता है.

पूर्ण ज्ञान जब-तक प्रकट न हो पाता हो तब-तककी प्रमाण-व्यवस्था यह है.

पूर्ण ज्ञानोदयके बाद व्यवस्था इस तरह समझनी चाहिये : जगत्के सभी नाम-रूपोंको धारण करके एकमात्र स्वयं भगवान् ही तो क्रीड़ा कर रहे हैं. अतः अनेकविध विरुद्ध धर्मोंके एक अविरुद्ध आश्रय ऐसे ब्रह्मके विलक्षण स्वरूपका विचार करनेपर प्रमाणचतुष्टयकी एकवाक्यतापन्न शब्दराशिसे विरुद्धतया प्रतीत होते वचनका भी विरोधाभास परिहृत हो जाता है. भगवान्में सर्वभवनसामर्थ्य है तथा एकमात्र भगवान् ही अनेकविध विरुद्ध नाम-रूपोंको धारण कर क्रीड़ा करते हैं. ऐसी स्थितिमें किसी भी वचनको विरुद्धतया अप्रमाण माननेकी कोई आवश्यकता रह नहीं जाती है'' (त.दी.नि.१.७-९).

इस विस्तृत उद्धरणसे यह सिद्ध होता है कि पूर्ण ज्ञानोदयसे पूर्व तथा पश्चात् प्रमाणव्यवस्था भिन्न-भिन्न है. जिज्ञासाकाल या उपदेशकाल में यच्चयावत् शास्त्रवचनोंके आधारपर उपदेश या बोध शक्य ही नहीं. जैसे एक शिशुको उपदेशकालमें '' 'क' कमल का'' रटानेसे जैसी सुगमता निभती है, वैसी 'क' कमल, कागज, कपडा, कौआ, काजल, कचरा, कोठी आदि सभीका रटवानेपर निभ नहीं पायेगी ! अतएव प्रमाणव्यवस्थामें संकोच प्रस्तावित करना पडा है कि ''**एतच्चतुष्टयम् एकवाक्यतापन्नं (सत्) प्रमाजनकम्**'' (त.दी.नि.प्र.१।) यहाँ एकवाक्यताके आग्रहके पीछे यही हेतु छिपा हुआ है. संस्कृतभाषामें कहें तो ''प्रमाणानि तानि चत्वारि'' कहनेपर सिद्धान्तावगमार्थ वचनोंके तात्पर्यके उट्टंकनका उत्तरदायित्व स्वयं जिज्ञासु अध्येतापर आ पड़ेगा और यहीं दिग्भ्रमकी

पूर्ण सम्भावना छिपी रहती है. अतः एक बार एकवाक्यताकी दिशा निर्धारित हो जानेपर जिज्ञासा कभी पथभ्रष्ट नहीं हो पायेगी. चारों शास्त्रोंके परस्परसमन्वित वचन ब्रह्मसम्बन्धी सभी जिज्ञासाओंका उपशम स्वतःप्रामाण्यके बलपर करते हैं.

यह संकुचित प्रमाणव्यवस्था प्रतिवादीके बारेमें पूर्णज्ञानोदयकी अस्वीकृतिके बावजूद महाप्रभु प्रस्तावित करना नहीं चाहते. अतएव श्रीमध्वाचार्यकी प्रतिज्ञाको दोहराते है :

अर्थोयमेव निखिलैरपि वेदवाक्यैः
रामायणैः सहित भारत पञ्चरात्रैः।
अन्यैश्च शास्त्रवचनैः सहतत्त्वसूत्रैः
निर्णीयते सहृदयं हरिणा सदैव॥

(म.भा.ता.नि.१।२२ तथा त.दी.नि.१।१०४)

सर्वेषां प्रमाणानाम् अत्र एकवाक्यता (त.दी.नि.१।१०४)

भावार्थ : निखिल वेदवाक्यों रामायणों महाभारत पञ्चरात्रों तत्त्वसूत्रों तथा अन्य भी सभी शास्त्रवचनोंका अर्थ यही है जो हमने दिखलाया है. सभी प्रमाणोंकी हमारे मतमें एकवाक्यता सिद्ध हो जाती है.

सुस्पष्ट है कि शास्त्रीय तत्त्वनिश्चयार्थ किये जाते वादकालकी यह प्रमाणव्यवस्था **''प्रमाणं तच्चतुष्टयम्''**(त.दी.नि.१।) से तो व्यापक है, परन्तु पूर्णज्ञानोदयोत्तरकालकी प्रमाणव्यवस्थासे तो कुछ संकुचित ही है. क्योंकि केवल सकल शास्त्रवचनोंको ही यहां प्रमाणतया मान्य किया गया है. जबकि इससे भी व्यापकतर व्यवस्था महाप्रभु प्रस्तुत करते हैं - **''अथवा सर्वरूपत्वात् नामलीलाविभेदतः...वाङ्मात्रमेव प्रमाणम् अर्थस्य भगवद्रूपत्वात्** (त.दी.नि.१।९) कह कर.

भावार्थ : प्रत्येक वचन प्रमाण बन सकता है, क्योंकि वाक्यघटक

प्रत्येक शब्दका अर्थ अन्ततः तो ब्रह्म ही होता है. पूर्णज्ञानोदयोत्तरकालका यह महाप्रभुका ब्रह्मवादी डिण्डिमघोष है !

(४) अणुभाष्यके उपजीव्य प्रमाणोंका स्वरूप

वेदान्तके अन्य आचार्योंकी तुलनामें महाप्रभुकी पृथक्ता एक यह दिखलाई जाती है कि अन्य सभी प्रस्थानत्रयप्रामाण्यवादी हैं तथा महाप्रभु प्रस्थान(प्रमाण?)चतुष्टयप्रामाण्यवादी! यह विधान महाप्रभुकी निन्दा या प्रशंसा दोनों ही अभिप्रायोंमें नितान्त निर्मूल है. और यह निन्दा-स्तुति न केवल महाप्रभुके अपितु अन्य भी सभी आचार्योंकी मौलिक धारणाओंसे सर्वथा अपरिचयका द्योतन है, वेदान्तके सभी आचार्य शास्त्रप्रामाण्यवादी हैं. कोई भी केवल प्रस्थानत्रयप्रामाण्यवादी अथवा केवल प्रस्थानचतुष्टयप्रामाण्यवादी नहीं है. प्रत्युत श्रीमध्वाचार्यके अधुनाप्रकाशित संग्रहका तो श्रुतिप्रस्थान स्मृतिप्रस्थान सूत्रप्रस्थान पुराणप्रस्थान एवम् इतिहासप्रस्थान यों चारसे भी अधिक पांच प्रस्थानोंमें वर्गीकरण किया गया है. यद्यपि इनमें तन्त्रप्रस्थानका पृथगुल्लेख नहीं हो पाया है. किन्तु उसे भी जोड़ दिया जाय तो श्रीमध्वाचार्य निश्चित ही आपत्तिजनक नहीं मानते, तन्त्रप्रामाण्यवादी होनेके कारण ही.

महाप्रभु भी चार प्रस्थानोंका पृथक्-पृथक् प्रामाण्य नहीं मानते हैं, किन्तु प्रस्थानचतुष्टयकी एकवाक्यतापन्न शब्दराशिका एक समन्वित प्रामाण्य ही स्वीकारते है. वह भी केवल जिज्ञासाकाल या उपदेशकाल में ही, यह हम दिखला चुके हैं. इन चारो प्रस्थानोंमेंसे किसी भी एक प्रस्थानका इतरनिरपेक्ष-प्रामाण्य नहीं हैं. अतएव महाप्रभु यह कहते हैं कि **''ब्रह्म तो केवल उपनिषद्वेद्य ही है अतः ब्रह्मसूत्रोंद्वारा की जाती मीमांसा यदि उपनिषदोंसे स्वतन्त्र हो तो इससे उत्पन्न होता ज्ञान 'ब्रह्मज्ञान' नहीं कहलायेगा''** (ब्र.सू.भा.१।१।१). अतः स्वीकारना पडता है कि

(क) ब्रह्मविषयक प्रमाके जननका आद्यप्रवृत्तिरूप व्यापार श्रुतिके शब्दोंद्वारा प्रकट होता है (ख) उस व्यापारमें सन्देहनिरसनद्वारा गीता

सूत्र तथा भागवत के शब्द सहकारी बनते हैं (ग) इन तीन सहकारी प्रस्थानोंद्वारा उपकृत श्रुतिके शब्द अथवा प्रमाणचतुष्टयकी एकवाक्यतापन्न शब्दराशि असम्भावना-विपरीतभावनारहित ब्रह्मप्रमाको प्रकट करती है.

उदाहरणतया घटविषयक चाक्षुषप्रमामें सर्वप्रथम मनःसंयुक्त चक्षुका प्रकाशसंयुक्त घटके साथ संयोग सम्पन्न होनेपर ही प्रत्यक्षज्ञान शक्य बनता है. इसमें मन चक्षु तथा प्रकाश इतरनिरपेक्षतया घटप्रमाके जनक नहीं हो सकते. महाप्रभुके शब्दोंके वजनपर जोडना चाहें तो ''एतत् त्रयं परस्परसहकारितया घटसंयुक्तं सत् प्रमाजनकम्'' वाक्य घड़ा जा सकता है.

सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य इस सन्दर्भमें यह समझ रखना चाहिये कि 'प्रस्थान' और 'प्रमाण' पर्यायवाची शब्द नहीं हैं. अतएव प्रस्थानसे अधिक भी प्रमाण किसी वेदान्तसम्प्रदायमें सहज ही सम्भव हैं. 'प्रस्थान'का अर्थ विचारयात्राका आरम्भबिन्दु होता है. वैसे स्वयं महाप्रभुकेद्वारा प्रयुक्त शब्दोंपर दृष्टिपात करते हैं तो ''प्रस्थानं तच्चतुष्टयम्'' नहीं, प्रत्युत ''प्रमाणं तच्चतुष्टयम्'' शब्द ही हमें उपलब्ध होते है. और फिर न तो उपनिषद् या गीता पर महाप्रभुका कोई स्वतन्त्र भाष्य है और न अन्य श्रीशंकराचार्य प्रभृति वेदान्तव्याख्याकारोंके भी स्वयं उन्हे प्रमाणतया अभिमत सकल शास्त्रोंपर ही कोई भाष्य उपलब्ध होते हैं. इसके बावजूद आधुनिक वेदान्तलेखनमें प्रस्थान और प्रमाण को पर्यायवाची जैसा अनजाने माना जाने लगा है !

(५) भागवतप्रामाण्यपर आधुनिक आपत्तिका समाधान

कुछ आधुनिक लेखक (द्र : एम.आई.मारफतिया लिखित 'द फिलोसोफी ओफ वल्लभाचार्य') प्रस्थानत्रयीकी कोटीमें चतुर्थप्रस्थानतया भागवतकी प्रस्थापनाके विरोधमें प्रबल वितण्डा खड़ा करना चाहते हैं. यह किन्तु वेदान्तशास्त्रीय मौलिक धारणाओंके साथ स्वयम् उनके अपरिचयका ही द्योतक है. क्योंकि ब्रह्मसूत्र भी तो स्वयं स्मृतिके

रूपमें सर्वदा गीताप्रस्थानका ही अवलम्बन करते हों ऐसा कोई भी भाष्यकार स्वीकारता नहीं है. एतदर्थ शांकर आदि भाष्योंके अनुसार ये सूत्र द्रष्टव्य है :

शांकरभाष्यमें : २।३।४७, ३।१।१४, ३।१।१९ तथा ४।२।१४.
भास्करभाष्यमें : २।३।४७, ३।१।१५, ३।१।१९ तथा ४।२।१४.
रामानुजभाष्यमें : २।३।४६, ३।१।१५, ४।२।१३ तथा ४।३।१०.

इन सभी सूत्रोंमें तत्तद् भाष्योंके अनुसार गीतेतर तत्तद् पुराणादिवाक्योंका ही विमर्श हुआ है. तब प्रस्थानत्रयीका सिद्धान्त कहां रहा? यह बचाव थोथा ही है कि कभी-कभाक इतरवचनोंका अवलम्बन दोषावह नहीं, जबकी निरन्तर पुराणवचनोंका अवलम्बन दोषावह ही है, क्योंकि ऐसा निकष इन पूर्वोक्त भाष्यकारोंनें तो कहीं शब्दशः मान्य किया नहीं है. विचारशैलीमें कभी-कभाक पुराणवाक्योंका विमर्श या निरन्तर विमर्श केवल विचारके शैलीगत भेदका परिचायक हो सकता है. आधारगत भेदका नहीं. क्योंकि पुराणवाक्य भी प्रमाणतया ही उभयत्र उपन्यस्त हुए हैं.

श्रीमध्वाचार्य तो सर्वत्र श्रुति-स्मृति-पुराणवचनोंका अविशेषेण प्रमाणतया उपन्यास करते ही हैं. एक भाष्यकार आचार्यकी विचारशैली अन्य आचार्यके लीये बन्धनकारी नहीं होती. अन्यथा जो पुराणवचनोंका अधिक अवलम्बन नहीं करते उनकी विचारशैलीमें यह दोष मानना पड़ेगा कि उनके विचारोंकी पुराणोंद्वारा पुष्टि नहीं की गई है.

महाप्रभु या प्रभुचरण ऐसी स्थितिमें ब्रह्ममीमांसामें भागवतका अवलम्बन अधिकतया करते हों तो वेदान्तके किसी भी प्राचीन विद्वानके लिए तो वह आपत्तिजनक नहीं हो सकता है. श्रीमध्वाचार्य तो स्वयं ही यह स्वीकारते हैं :

"ब्रह्मसूत्र-महाभारत-गायत्री-वेदसम्बन्धश्चायं ग्रन्थः उक्तं गारुडे -

अर्थोयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थविनिर्णयः।
गायत्रीभाष्यरूपोसौ वेदार्थपरिबृंहितः॥
पुराणानां साररूपः साक्षाद्भगवतोदितः।
द्वादशस्कन्धसंयुक्तः शतविच्छेदसंयुतः।
ग्रन्थोष्टादशसाहस्रः श्रीमद्भागवताभिधः।

(श्रीमद्भागवततात्पर्यनिर्णय १।१)

ऐसी स्थितिमें स्वयमेव सूत्रोंको स्मृतित्वेन मान्य, उपनिषदोंको भी वेदोके वेद अर्थात् पंचमवेदतया मान्य, इतर पुराणोंको ब्रह्मसूत्रार्थत्वेन-भारतार्थनिर्णयरूपत्वेन-सकलपुराणसारत्वेन- गायत्रीभाष्यत्वेन-वेदार्थपरिबृंहितत्वेन-साक्षाद्भगवतोदितत्वेन मान्य भागवतकी चतुर्थ प्रस्थानताकी मान्यताके विरुद्ध उठाये गये सारे बवण्डर वेदान्तगोष्ठीमें नितान्त प्रभावहीन ही लगते हैं. आधुनिक रिसर्चगोष्ठीकी गवेषणा अशास्त्रीय कल्पनाओंसे प्रभावित होनेके कारण वेदान्तशास्त्रीय मौलिक धारणाओंसे सर्वथा अपरिचित ही सिद्ध होती है.

महाप्रभुने सर्वनिर्णयप्रकरणके प्रमाणप्रकरणमें, अतएव, भागवतकी असाधारण महत्ता, उसके प्राकट्यका प्रयोजन, उसका सर्वोद्धारक स्वरूप, उसका सर्वसन्देहवारक प्रामाण्य तथा प्रमाणतः-प्रमेयतः-साधनतः-फलतः उत्कर्ष स्वीकारा है.[१]

१.ननु कृष्णः सर्वमुक्त्यर्थम् अवतीर्णः तस्य स्वरूपकथनार्थं भागवतं प्रवृत्तं...सर्वगोप्यो हि धर्मस्तु वेदे मुख्यतयोदितः ब्रह्ममात्रप्रकाशस्तु कृपया सनकादिगः...भगवदिच्छया यदा पुनः सर्वोद्धारार्थं प्रयत्नं कृतवान् तदा परम्परायाः अभावाद् नान्यैः व्यासैः वक्तुं शक्यते इति व्यासावतारः अभिप्रायज्ञानार्थं गीतायां सएव प्रकटीकृतः...स इदानीन्तु गीतायां प्रकटो भगवत्कृतः तद्व्यासत्वाद् भागवतं पूर्वं भगवतोदितं...कालादिधर्महेतूनाम् अभावात् साम्प्रतं कलौ वेदस्मृतिपुराणानाम् अर्थाः सर्वे हि बाधिताः. कालादिसाधनापेक्षारहितः सर्वतोधिकः फलतः सुगमश्चैव सर्वथा फलसाधकः.(त.दी.नि.२।५९-६९).

(६) श्रुति तथा भागवत

वेदादिशास्त्रोंके आपाततः विमर्श करनेपर केवल सुसाधन जीवात्माओंका ही उद्धार सम्भव लगता है. कृष्णावतारलीलाका, परन्तु, भलीभांति अध्ययन करनेपर कुछ और ही चित्र सामने आता है. इस रूपमें भगवान् सुसाधन निःसाधन तथा दुष्टसाधन यों सभी तरहकी जीवात्माओंका उद्धार करना चाहते हैं. काम-क्रोध-भय-स्नेह-ऐक्य-सौहृदादि किसी भी निन्दित-अनिन्दित-प्रशस्त मनोवृत्तिवश जीवात्माका चित्त परमात्मामें एकाग्रतया तन्मय होनेपर पारमात्मिक आनन्दकी उपलब्धि सम्भव है.[१] **"ऐतद् आत्म्यम् इदं सर्वं सः आत्मा तत् त्वम् असि"** (छान्दो.उप.६।८।७) श्रुतिमें वर्णित ज्ञानमार्गीय श्रौत प्रक्रियाद्वारा जड़-जीवरूप वस्तुमात्रका ब्रह्मसे तादात्म्यानुभव न कर पानेवालेको भी इन मनोवृत्तियोंके कारण भी अन्तमें सर्वात्मभावकी सिद्धि सम्भव है. ऐसा उल्लेख भागवतसे पूर्व इतने स्पष्टतम शब्दोंमें तथा लीलावर्णनकी मुहरके साथ उपलब्ध नहीं होता.

महाप्रभु कहते हैं **"कर्मज्ञानकाण्डादिष्वपि भक्तिशेषत्वकथनात् सर्वश्रुतितात्पर्यविषयभगवत्प्रतिपादनाच्च श्रुतिसाररूपत्वं (भागवतस्य)"** अर्थात् श्रुतिवर्णित कर्मसाधना तथा ज्ञानसाधना भागवतद्वारा भक्तिकी अंगभूत बनायी गयी है. भगवान् तो प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलनिरूपिका सभी तरहकी श्रुतिओंके परम-तात्पर्य-विषयीभूत हैं. अतः ऐसे भगवत्स्वरूपकी प्रतिपादक होनेसे भी भागवतको श्रुतिसार समझना चाहिये. (द्रष्टव्य : सुबो.३।२।२४)

ऐसी अवस्थामें ब्रह्मसूत्रके साधनफलाध्यायोंमें यदि जीवके उद्धारके एक अन्यतम किन्तु प्रमुख साधनके रूपमें; तथा इसी तरह जीवात्माको अनुभूत होते एक अन्यतम फिर भी प्रमुखतम फलके रूपमें भागवतोक्त भगवल्लीलाका वर्णन नहीं हो पाया ऐसा स्वीकारते हैं, तो साधनाध्याय तथा फलाध्याय में ही यह न्यूनता स्वीकारनी पडेगी. श्रुतिसारभूत साधन

---

१. **कामं क्रोधं भयं स्नेहम् ऐक्यं सौहृदमेव वा।**
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥
(भाग.पुरा.१०।२९।१५)

एवं फलके वर्णनसे ब्रह्मसूत्रोंको वञ्चित मानना पड़ेगा.

सम्भव है कि पुष्प या फल के बीजोंमें पुष्पकी सुगन्ध या फलका सुस्वाद न भी अनुभूत होता हो. फिर भी वह सामर्थ्य तो बीजमें गूढतया निहित स्वीकारना ही पड़ता है. कहनेकी आवश्यकता नहीं कि **''निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्''** (भाग.पुरा.१।१।३) भागवतवर्णित भगवल्लीलाकी उद्धारसाधनता तथा फलरूपताकी सुगन्ध तथा सुस्वाद भी बीज-शाखा-पल्लवरूप श्रुति-स्मृति-सूत्रवचनोंमें स्पष्टतया अनुभूत न भी होते हों परन्तु विवक्षामें तो निहित स्वीकारने ही पडेंगे.

अणुभाष्य उसी फलावस्थाका वर्णन बीज-शाखा-पल्लवोंकी पहचानमें भी देना चाहता है.

(७) गीता और भागवत

जो रहस्य भागवतमें प्रकटतया वर्णित है उसे भागवतपूर्व शास्त्रोंमें गुप्ततया अवस्थित स्वीकारना पड़ेगा. भगवदवतारकालमें मुक्ति या भक्तिके दानमें भगवान्के साधननिरपेक्ष निरंकुश सामर्थ्यको प्रकट करनेवाली अनेक लीलायें वर्णित हुई हैं.

यद्यपि गीतामें **''सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच''** (भग.गीता १८।६६) जैसे भगवत्प्रदत्त आश्वासनोंमें भी भगवान्के साधननिरपेक्ष निरंकुश उद्धारसामर्थ्यका सिद्धान्त ध्वनित होता है. फिर भी साधनाभिमानसे जड़ीभूत हृदयमें इसकी प्रतिध्वनि सहसा नहीं गूंज पाती. परिणामतः व्याख्याकारोंको भय लगता है कि ''सर्वधर्मत्याग''को यथाश्रुत लेनेपर जगत्में पाषण्ड बढ़ जायेगा. अतः 'धर्म'पदके विविध अर्थ वे प्रस्तुत करने लग जाते है. यथा : यह धर्म मनुष्यत्व-पुरुषत्व-स्त्रीत्वादि रूप दैहिक धर्म है. या ब्राह्मणत्व-शूद्रत्वादिरूप वर्णधर्म है, या ब्रह्मचारित्व-संन्यासित्वादिरूप आश्रमधर्म है; यों देहादिके

अध्यासमूलक मिथ्या धर्मोंके त्यागका उपदेश यहां पारमार्थिक ब्रह्मात्मैक्यकी अनुभूतिकेलिए दिया गया है. कुछ अन्य व्याख्याकार कहते हैं कि 'धर्म'पदसे धर्मानुष्ठानमें कर्तृत्वभोक्तृत्वरूपा अहन्तामममता विवक्षित हैं जिनके त्यागका यहां उपदेश दिया जा रहा है. इत्यादि इत्यादि.

मूलतः जबकि अर्जुनको भगवान् यह समझाना चाहते है कि उसे युद्ध करना चाहिये तथा कर्म-ज्ञान-भक्ति आदि मार्गसम्बन्धी विधिनिषेधोंके अनुसार प्रवृत्ति-निवृत्तिद्वारा आत्मोद्धारकी चिन्ता छोड़ देनी चाहिये. क्योंकि सर्वप्रथम तो इस लड़े जा रहे युद्धमें अर्जुनका सारथित्व भगवान् स्वीकार चुके हैं. पश्चात् श्रीमुखतः युद्धकी अनुज्ञा भी प्रदान कर चुके हैं. भगवान्ने विधिनिषेधमूलक प्रवृत्ति-निवृत्तिसे जन्य पुण्य-पापोंके चक्रसे अर्जुनको मुक्त रखनेका आश्वासन दिया ही है. फिर भी कर्म ज्ञान अथवा भक्ति आदि मार्गोंके कारण अर्जुनको सताती आत्मोद्धारकी चिन्ताका निवारण भगवान् इस चरमोपदेशद्वारा देना चाहते हैं.

क्योंकि निष्काम कर्म यदि जीवात्माका उद्धार करनेमें समर्थ है तो वह किसी कर्ममार्गीय जीवात्माके कर्मसामर्थ्यके कारण नहीं, किन्तु कर्मके शास्त्रविहित होनेके कारण ही. ज्ञानाग्नि यदि सभी अच्छे-बुरे कर्मोंको भस्मसात् करनेमें समर्थ है तो वह भी किसी ज्ञानमार्गीय साधककी बुद्धिके सामर्थ्यके कारण नहीं, किन्तु ज्ञानके ब्रह्मज्ञान होनेके कारण ही. इसी तरह भक्ति भी किसी सुदुराचारीके उद्धारमें समर्थ है तो वह साधकके भक्तिमार्गीय साधनाडम्बरोंके कारण नहीं, किन्तु भक्तिके हृदयतः भगवद्विषयिणी होने के कारण ही. अतः भगवत्प्रेरित या भगवद्विषयक होनेके कारण, असमर्थ क्षुद्र जीवात्माके कर्म-ज्ञान-भक्तिके भीतर भी यदि सुकृत-दुष्कृतके चक्रको प्रभावहीन बनानेकी सामर्थ्य आ जाती हो, तो क्या स्वयम् उस सर्वसमर्थ परमात्मामें अपने शरणागतको पुण्य-पापोंके चक्रसे छुड़ानेकी सामर्थ्य नहीं हो सकती ?

भगवान् इस आशयसे चरमोपदेश कर रहे हैं. व्याख्याकार जबकि पूर्वोपदिष्ट कर्म-ज्ञान-भक्तिमेंसे ही किसी एक उपदेशके साथ पुनः इस चरमोपदेशको भी अपनी-अपनी रुचिके अनुसार जोड़ देना चाहते हैं ! और इस तरह चरमोपदेशको केवल एक पिष्टपेषण बना कर रख देते हैं !!

कर्मज्ञानभक्ति-आदि साधनाओंमें आत्मोद्धारकी सामर्थ्य परमात्मनिरपेक्ष नहीं हो सकती है. यह "**फलम् अतः उपपत्तेः**" (ब्र.सू.३।२।३८) वचनद्वारा सिद्ध होता है. तथा परमात्मामें जीवात्माके उद्धारहेतु, इन कर्म-ज्ञान-भक्तिरूप साधनोंसे निरपेक्ष सामर्थ्य भी हो सकती है, यह गीताके चरमोपदेशद्वारा सिद्ध हो रहा है. भागवत इसे सोदाहरण भगवल्लीलाके वर्णनद्वारा समझाती है :

अहन्यापृतं निशि शयानमतिश्रमेण।
लोकं विकुण्ठमुपनेष्यति गोकुलं स्वम्॥

(भाग.पुरा.२।७।३१)

गोप्यः कामाद् भयात् कंसः द्वेषाच्चैद्य अधीरधी।
सम्बन्धाद्वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभोः॥

(भाग.पुरा.७।१।३०)

सुसाधन जीवात्माका तो उद्धार शास्त्रीय साधनोंके माहात्म्य अथवा परमात्माके माहात्म्य मेंसे किसके कारण हुआ यह इदमित्थतया निश्चित कर पाना दुष्कर है. परन्तु "**अहन्यापृतं...**" में निःसाधन जीवात्माके तथा "**गोप्यः कामाद्...**"में दुष्टसाधन जीवात्माके भी उद्धारकी चर्चा "**फलम् अतः उपपत्तेः**" तथा "**सर्वधर्मान् परित्यज्य...**" वचनोंका ही भागवतमें लिखा गया लीलोदाहरणके सहित सुरुचिर भाष्य है.

ऐसा नहीं कि यह सिद्धान्त उपनिषदोंमें सर्वथा उपलब्ध ही

न होता हो क्योंकि ''**एषः ह्येव एनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यः उन्निनीषति, एषः उएव एनम् असाधु कर्म कारयति तं यम् अधो निनीषति**'' (कौषी.उप.३।९) तथा ''**नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्य एषः आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्**'' (कठोप.२।२३) वचनोंमें इन्हीं सिद्धान्तोंका संकेत मिल तो अवश्य जाता हैं. क्योंकि किसी भी कर्मका साधुत्वासाधुत्व उत्कर्षापकर्षप्रदत्व तथा कारयितृत्व भगवन्निर्धारित तथा भगवन्निहित हो तो परमात्मामें साधननिरपेक्ष निरंकुश उद्धारसामर्थ्य अर्थात् सिद्ध हो ही जाता है. प्रवचन-मेधा-श्रवणादि साधनोंसे उसे अलभ्य बता कर अनुग्रहापरपर्याय वरणसे लभ्य बताना भी उसी निरंकुश सामर्थ्यका द्योतन है. परन्तु श्रुति-स्मृति-सूत्र-भागवतकी एकवाक्यता साधे बिना यह रहस्य पूर्णतया उजागर नहीं हो पाता है.

अतएव महाप्रभु भागवतको गीताका विस्तार मानते हैं.

(८) सूत्र और भागवत

सर्वशास्त्रसमर्थित भगवान्के निरंकुश साधनफलरूप सामर्थ्यको अणुभाष्यकार ''सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र'' अधिकारके अनुसार अथवा ''स्वपदानि च वर्ण्यन्ते'' अधिकारके अनुसार भी सूत्रारुढ करते हों (द्र : **सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः स्वपदानि च वर्णयन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः**) तो वह भाष्यकारकी हैसियतमें कथमपि अनुचित नहीं माना जा सकता है. क्योंकि फलोपम सूत्रवचनोंकी शब्दत्वचामें वह अर्थ प्रकट न भी होता हो तो न सही, परन्तु निगूढ़ विवक्षारूप गुदेमें तो वह छिपा हुआ है ही.

अन्यथा भाष्यद्वारा भागवतको सूत्रारूढ करनेकी प्रक्रियाका निषेध करनेवालोंको कृष्णावतारलीलाका भी निषेध करना पड़ेगा और गीताके सर्वगुह्यतम चरमोपदेशका भी.

विचित्र बात तो यह है कि शास्त्रोक्त साधनोंके यथाविधि अनुष्ठानमें समर्थ साधक तो भागवतके प्रस्थानान्तर्भावपर आपत्ति उठायें तो वह समझमें आ सके ऐसी बात है. देश-काल-कर्तृ-मन्त्र-कर्मादि शास्त्रापेक्षित शुद्धि आज जब कालवशात् सर्वथा उद्ध्वस्त हो गई है, ऐसी स्थितिमें समग्र साधनव्यवस्थाका निर्मूल-स्वच्छन्द व्याख्यान तथा अनुष्ठान करनेवाले असमर्थ साधक सर्वसमर्थ भगवान्के निरंकुश सामर्थ्यपर आशंका प्रकट करते हैं! सूत्रकार जबकि शब्दशः जैमिनीसे अपना मतभेद कर्मके बजाय परमात्माको फलदाता माननेके रूपमें घोषित कर चुके हैं.

(९अ) मध्यमाधिकारीकेलिए सर्वसन्देहवारक भागवतकी मननिदिध्यासनोपयोगिता

श्रुतिमें आत्मदर्शनार्थ श्रवण-मनन-निदिध्यासनरूप उपाय दिखलाये गये हैं (द्र : बृह.उप.४।५।६). इन उपायोंके स्वरूपको स्पष्ट करते हुए महाप्रभु कहते हैं कि उपनिषदोंके वचनोंको केवल सुन लेना पर्याप्त नहीं है, किन्तु इस चतुर्लक्षणी ब्रह्ममीमांसासाद्वारा उन उपनिषद्वचनोंकी ब्रह्मपरता समझनी आवश्यक है. अर्थात् ये उपनिषद्वचन ब्रह्मतत्त्वके ही निरूपक हैं, यह भलीभांति समझमें आ जाये तो मानना चाहिये कि श्रवण सम्पन्न हुआ. इस तरह श्रुत वचनोंके अर्थोंके बारेमें कभी असम्भावना या विपरीतभावना मनमें न उठे, एतदर्थ मनन अपेक्षित होता है. इस मननकी प्रक्रियामें वेदोपनिषद् गीता ब्रह्मसूत्र तथा भागवत के वचन उत्तरोत्तर सन्देहवारक अंग बन कर तथा परस्परसमन्वित होकर मननोपाय बनते हैं. पूर्व-पूर्व शास्त्रका कोई भी वचन या शब्द यदि स्वयंकी ब्रह्मपरताके बोधजननमें स्वतःसफल न भी हो पाता हो तो जिज्ञासाकालमें उसका आहार्यविस्मरण करना पड़ेगा, जब तक उत्तरोत्तर आते वचनोंमें निर्दिष्ट किसी प्रक्रियाद्वारा ऐसे वचन या शब्द की ब्रह्मपरताको परखनेकी दृष्टि हमारे भीतर पनप नहीं जाती. ऐसी दृष्टिके

लाभ होनेपर मनन सम्पन्न हुआ समझना चाहिये.

महाप्रभुके मतमें अतएव केवल **''युक्तिभिः अनुचिन्तनं मननम्''** परिभाषा अपर्याप्त है. जबतक 'युक्ति' पदके अर्थतया 'प्रमाणचतुष्टयकी एकवाक्यतापादिका युक्ति'' को विवक्षित न माना जाये. मननके बाद आता है निदिध्यासन, यथावगत ब्रह्मस्वरूपकी यथाधिकार ज्ञानमार्गीय मर्यादोपासनामार्गीया या पुष्टिभक्तिमार्गीय रीतिके अनुसार ध्यान-धारणा समाधि या तत्स्थानीय चित्तकी किसी अवस्थाका लाभ होना निदिध्यासन है. यह सिद्ध होनेपर अन्यव्यापारसे निर्मुक्त साधकको स्वस्वमार्गीय रीतिसे ब्रह्मानुभव फलित हो जाता है. महाप्रभु कहते है - **''इदमेव ब्रह्मज्ञानम्.''**[१]

(९ब) उत्तमाधिकारीकेलिए सर्वसन्देहवारक भागवतकी मननिदिध्यासनोपयोगिता

मध्यमाधिकारीके लिए उपदिष्ट मननिदिध्यासनकी रीति ही, महाप्रभु, उत्तमाधिकारीके लिए भी स्थूणाखननन्यायेन उपयोगी मानते हैं. क्योंकि महाप्रभुकी धारणा है कि श्रीकृष्णवाक्य अर्थात् गीताके अनुसार जो वेदोपनिषदोंका अर्थ करते हैं वे ही सच्चे भागवत और ब्रह्मवादी हैं. (त.दी.नि.१।२१). अतः वेदार्थमें सन्देह न हो तब भी वेदार्थ व्यासोक्त ब्रह्ममीमांसाके अनुसार ही करना चाहिये (ब्र.सू.भा.१।१।१).

महाप्रभु यह भी समझाते हैं कि ब्रह्मके स्वरूपको समझनेके

---

१. अधीतानां ब्रह्मवाक्यानां चतुर्लक्षण्या ब्रह्मपरत्वे सिद्धश्रवणं भवति, श्रुतस्य कालान्तरेऽपि असंभावनाविपरीतभावनानिवृत्त्यर्थं पूर्वस्थितानाम् अंगानाम् अपेक्षितानाम् उद्वापो अन्येषाम् अपेक्षितानाम् अवापेन तस्यैव अर्थस्य निर्धारणे मननं भवति, ततोऽपि एवं ध्यानादिसमाध्यन्तरूपं निदिध्यासरूपं मनसि सर्वतो निवृत्तव्यापारे स्वयम् उपलब्धनिजसुखानुभवरूपं ब्रह्म इदमेव ब्रह्मज्ञानम्. (ब्र.सू.भा.१।२-।१)

लिए तीन पक्षोंको समझना पड़ेगा : (१) पूर्वकाण्डोक्त ब्रह्मका क्रियारूप सामर्थ्य, (२) उत्तरकाण्डोक्त ज्ञानरूप सामर्थ्य (अर्थात् प्रत्येक कर्म या क्रिया में वह सामर्थ्य नहीं, किन्तु शास्त्रविहित क्रियामें फलजननसामर्थ्य है. इसी तरह ब्रह्मविषयक ज्ञानमें मोक्षपापकता है. घटविषयक ज्ञानमें नहीं) और (३) गीता-भागवतोक्त क्रियाज्ञानविशिष्ट सर्वसमर्थ हरिका स्वयंका स्वरूप (द्र.त.दी.नि.१।८९-९०) महाप्रभु यह भी स्वीकारते हैं कि विशिष्ट वेदार्थ (अर्थात् क्रियाज्ञानशक्तियुक्त परमात्मा स्वयं) फल है. उसे पानेका साधन भगवत्प्रेम है. भगवत्प्रेमका साधन नवधा भक्ति है. जिसका संक्षेपमें प्रतिपादन स्वयमेव भगवान्ने श्रीमुखसे गीतामें किया है तथा जिसका विस्तार सर्वनिर्णयपूर्वक समाधिद्वारा श्रीव्यासने भागवतमें किया है (द्र.त.दी.नि.१।२२०-२२१).

अतः उत्तमाधिकारीकेलिए भी स्वतः अर्थोकी उट्टंकना करनेके बजाय भागवतके अनुसार श्रुति-स्मृति-सूत्रका अर्थ करना अधिक उचित होता है.

(१०) दशमसुबोधिनी तथा अणुभाष्य

इसी पृष्ठभूमिको लक्ष्यमें रख कर महाप्रभुने भागवतके दशमस्कन्धमें वर्णित व्रज मथुरा द्वारिका या वैकुण्ठ की भगवल्लीलाओंमें स्थित तामस राजस सात्त्विक या निर्गुण भक्तोंके भावोंका तथा भगवल्लीलाओंका विवेचन ब्रह्मसूत्रकी शैलीमें ही अर्थात् प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलरूपेण ही किया है. न केवल इतना ही अपितु लीलामें विघ्नकारी असुरोंके स्वरूपकी भी विवेचना अविद्याके पांच देहाध्यास इन्द्रियाध्यास प्राणाध्यास अन्तःकरणाध्यास एवं स्वरूपविस्मृति तथा अन्य भी इन अध्यासोंके वश प्रकट होते काम-क्रोधादि दोषोंके रूपमें प्रस्तुत की है.

इसी तरह इन विघ्नोंके निराकरणार्थ भगवानद्वारा अनुष्ठित उपायोंके स्वरूपोंकी विवेचना भी विद्याके पांच वैराग्य सांख्य योग तप तथा

भक्ति नामक पर्वोंके रूपमें की है.

उदाहरणार्थ पूतनावधकी लीलाको व्रजवासिओंके बीचमें प्रकट हुए भगवान्द्वारा अनुष्ठित व्रजवासिओंकी अविद्याका निवर्तन माना गया है. भागवतके अनुसार पूतनावध वास्तवमें तो भगवान्द्वारा उसे प्रदान की गई धात्र्युचित श्लाध्य गति ही है. भक्तोंके बीच भगवान् प्रकट होते है उनकी भक्तिके कारण 'भक्ति'का अर्थ होता है **''माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ सर्वतोधिकः स्नेहः.''** ऐसी भक्ति भगवत्प्राकट्यकारिणी होनेके कारण प्रकट स्वरूपकी माताके समान होती है. अविद्या यद्यपि माहात्म्यज्ञानवाले भक्तिके अंशसे विपरीत है, फिर भी पूतनाके रूपमें अविद्या भी माता यशोदाकी तरह परमात्माको स्तनपान कराने आयी. अतः उस पूतनाको वैसी गति दी गई, हिंसाभावके अनुरूप नरकादि नहीं. इसी तरह व्रजभक्तोंकी अविद्याको श्रीभगवज्जननी भक्तिकी तरह भगवद्भावानुकूल देहाध्यासादिकी पोषिका बना लिया गया. पुष्टिभक्तिमार्गमें देहाध्यासादिरूप अज्ञान भी यदि भगवद्भावपोषक बन पाता हो तो अभिनन्दनीय है. यह है पुष्टिमार्गीय श्रवणके बाद भगवल्लीलाके मनन-निदिध्यासनका स्वरूप!

जैसे फलाध्यायमें - **''जीवतो म्रियमाणस्य गच्छतः सफलस्य च''** के चातुर्विध्यद्वारा ब्रह्मसूत्रोंमें फलावस्थाका वर्णन हुआ है. वही क्रम भागवतमें भी दशमस्कन्धके अन्तर्गत जीवद्भक्त तथा म्रियमाणभक्त के मुख्यतया वर्णनार्थ है.. एकादश स्कन्धको मुक्तिप्रकरण माना जाता है जो गच्छतोभक्त वर्णनार्थ है. इसी तरह द्वादश स्कन्ध आश्रय प्रकरण है और वहां आश्रयभावापन्न 'सफलस्य' का वर्णन अभिप्रेत है.

उक्त चतुर्विध ब्रह्मज्ञानिता केवल ज्ञानमार्गीय साधकका एकाधिकार नहीं. अतएव तृतीय स्कन्ध (भाग.पुरा.३।२५।३२-४०) की सुबोधिनीमें

बहुत विस्तारपूर्वक भक्तिमार्गीय साधककी भी ऐसी ही चतुर्विध अवस्था सम्भव है. यह दिखलाया गया है.

(११) षोडशग्रन्थ तथा अणुभाष्य

इस चतुर्विध फलनिरूपणके सन्दर्भमें यह ज्ञातव्य है कि षोडशग्रन्थान्तर्गत सेवाफलमें जिस अलौकिक-सामर्थ्यरूप फलका वर्णन है वह ''जीवतो ग्रीयमाणस्य'' स्थानीय ही है. इसी तरह एकादशस्कन्धीय मुक्तिप्रकरणके अनुरूप सेवाफल ग्रन्थमें सायुज्यफलका वर्णन है. द्वादशस्कन्धीय आश्रयभावापत्ति स्थानीय ''सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु'' फल सेवाफलमें वर्णित हुआ है.

''अलौकिक सामर्थ्य''पदवाच्य आद्यफलका ही स्वरूप निरोधलक्षण ग्रन्थमें चित्रित हुआ है तथा चतुश्लोकीके अन्तिम श्लोकमें भी.

इस तरह अनवतारकालमें पुष्टिभक्तिप्रणालीमें किसी तरहकी असौत्रता नहीं है. यह समझनेकेलिए पर्याप्त है. विस्तारभयसे इस विषयकी अधिक चर्चा यहां सम्भव नहीं.

कुछ अप्रासंगिक होनेपर भी इस विषयको इसलिये यहां छेड़ा गया कि साधन-फलाध्यायमें भागवतोपजीवनपर जैसे कुछ आधुनिक लेखक आपत्ति प्रकट करते हैं, वैसे ही उनसे प्रभावित तथाकथित वल्लभपन्थी भी महाप्रभु और प्रभुचरण के बीच कुछ पृथक् दृष्टिकोणकी उद्भावना करते रहते हैं. इन वल्लभपन्थिओंका आग्रह व्याख्यारहित महाप्रभुके वचनोंको केवल कण्ठस्थ करनेका होता है, अर्थविचाररहित. अतः विचारको अवकाश ही नही!

(१२) 'अर्थोयं ब्रह्मसूत्राणां' के सन्दर्भमें भागवतोक्त साधनफलका स्वरूप

इस तरह हम देख सकते हैं कि प्राचीन सभी आचार्योंको सर्वथा मान्य शास्त्रप्रामाण्य (केवल उपनिषत्प्रामाण्य नहीं) की धारणाके अनुरूप ही महाप्रभु-प्रभुचरणने अणुभाष्यादि ग्रन्थोंमें प्रमाणचतुष्टयीकी एकवाक्यता कितनी सूझबूझसे निभायी है! अन्यथा भगवदवतारकालमें शास्त्रविहित साधनोंसे असम्पन्न जीवात्माओंको भी ब्रह्मानुभूति या ब्रह्मप्राप्ति के असंख्य उल्लेखोंकी कोई संगति ही नहीं रह जायेगी. एतदर्थ भागवतके ये श्लोक मननीय हैं :

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्मएव च।
न स्वाध्यायतपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥
व्रतानि यज्ञच्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्संगः सर्वसंगापहो हि माम्॥

व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यः तथापरे॥
ते नाधितश्रुतिगणाः नोपासीतमहत्तमाः
अव्रतातप्ततपसः सत्संगान्माम् उपागताः॥
केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगाः मृगाः।
येन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुः अञ्जसा॥
यं न योगेन सांख्येन दानव्रततपोध्वरैः।
व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि॥

ता नाविदन् मय्यनुषङ्गवद्धधियः स्वमात्मानम् अदस्तथेदम्।
यथा समाधौ मुनयोब्धितोये नद्या प्रविष्टा इव नामरूपे॥
मत्कामा रमणं जारम् अस्वरूपविदोऽबलाः।
ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छतसहस्रशः॥
तस्मात् त्वम् उद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्।
प्रवृतञ्च निवृत्तञ्च श्रोतव्य श्रूतमेव च।
मामेकमेव शरणम् आत्मानं सर्वदेहिनाम्।

याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयम्॥

(भाग.११।१२।१-१५)

इस विस्तृत उद्धरणके सम्यक् विमर्शसे भगवदवतारकालीन लीलामें स्वयम् उस लीलाद्वारा प्रस्तुत होते पुष्टिभक्ति तथा पुष्टिप्रपत्ति के निगूढ़ सिद्धान्त और साधनफलव्यवस्थाके प्रकारको या तो अपसिद्धान्त मानना पड़ेगा; या इनकी संगति ब्रह्मसूत्रोंमें कहीं खोजनी पड़ेगी. या तो इतने महत्त्वपूर्ण विषयके अविमर्शका दोष ब्रह्मसूत्रोमें स्वीकारना पड़ेगा या शब्दशः अनुल्लेखका बतंगड़ बनाये बिना, सूत्रोंके तात्पर्यपर्यन्त अनुधावन करना पड़ेगा. यदि भागवतका ब्रह्मसूत्रार्थ होना ''अर्थोयं ब्रह्मसूत्राणाम्'' वचनसे प्रामाणिक माना जाता है तो ब्रह्मसूत्रमें भी कुछ न कुछ शब्द तो ऐसे खोजने ही पडेगें जो भागवतोक्त प्रमाण - प्रमेय - साधन - फलके स्वरूपके अभिधया या तात्पर्यवृत्त्या वाचक हों. भागवतके उल्लिखित वचनमें वर्णित अनेक व्यक्ति तथा प्रसंग भागवतेतर ग्रन्थोंमें भी वर्णित तो है ही. अतः केवल भागवतके बलिदान कर देनेपर भी काम चलेगा नहीं. रामायण और महाभारत, जिसका एक भाग होनेसे गीता ब्रह्मसूत्रोंका उपजीव्य है, भी ऐसी साधननिरपेक्ष-भगवत्सामर्थ्यमूलक उद्धारकथाओंसे भरे पड़े है. कितने शास्त्रोंकी उपेक्षा शास्त्रयोनि ब्रह्मके विचारमें ब्रह्मसूत्र कर सकते है!

मूल प्रश्न यही है कि भगवदवतारका सिद्धान्त शास्त्रीय है या नहीं? यदि शास्त्रीय है तो अवतारकालमें सभी निःसाधन दुष्टसाधन एवं सुसाधन जीवात्माओं को भगवत्साक्षात्कार हुआ था कि नही? यदि बह हुआ था तो ऐसे साधननिरपेक्ष साक्षात्कारद्वारा उन-उन जीवात्माओंको यथायथ भक्तिलाभ या मुक्तिलाभ हुआ कि नहीं? यदि आसुरभाववाले एवम् अज्ञानी जीवोंको भी मुक्ति या भक्ति का लाभ हुआ तो शास्त्रविहित साधनफलव्यवस्थाके उत्सर्गका अपवाद भी कुछ सिद्ध होता है कि नहीं? यदि सिद्ध होता है तो उसे भगवत्सामर्थ्यमूलक या

भगवदिच्छामूलक मानना चाहिये कि आकस्मिक ही? यदि भगवत्सामर्थ्य-इच्छामूलक साधननिरपेक्ष फलदानकी धारणा भी इस तरह शास्त्रीय हो तो या तो ब्रह्मसूत्रोंके साधन-फलाध्यायमें उसकी चर्चा होनी चाहिये थी अथवा एकाद कोई सूत्र ऐसा होना चाहिये था कि **"साधनफलनिर्धारित्ववतारकथा ह्यविचार्या अपुरुषार्थत्वाद् गप्यत्वाद् वा"** (!).

इससे अधिक किसी तरहकी जिज्ञासा इस विषयमें हो तो सर्वनिर्णयकी कारिका ३०३-३१६ का अवलोकन समाधानकारी हो सकता है.

"मर्त्यावतारस्तु इह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं..." (भाग.पुरा.५।१९।५) और **"तथा परमहंसानां मुनीनाम् अमलात्मनां भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः"** (भाग.पुरा.१।८।२०) वचनोंके विमर्श करनेपर भी परमेश्वरके दिव्य शब्दोंकी जैसे 'शास्त्र' संज्ञा "'शास्ति'इति शास्त्रम्" व्युत्पत्तिद्वारा स्वीकारी जाती है. उसी तरह परमेश्वरकी दिव्य लीला भी मर्त्यशिक्षणरूप एवम् भक्तियोगविधानरूप होनेसे शास्त्ररूप है, यह स्वीकारना पड़ता है. अतः अवतारकथाद्वारा सिद्ध साधनफलव्यवस्था भी शास्त्रीय व्यवस्था ही है जिसे शास्त्रयोनि ब्रह्मकी जिज्ञासामें स्थान देना ही पड़ेगा.

आधुनिक तथाकथित वल्लभपन्थियोंका वितण्डा

पूर्वोक्त पृष्ठभूमिको भलीभांति बुद्धिगत रखनेपर यह सहजतया समझमें आ सकता है कि प्राचीन किसी भी विद्वान्ने महाप्रभु और प्रभुचरण की भाषाशैली और विचारशैली में रही भिन्नताके बावजूद किसी भी प्रकारके मतभेदकी कल्पना क्यों नहीं की. क्योंकि साधन-फलके स्वरूपनिर्धारणकी जो रूपरेखा महाप्रभुने निबन्ध सुबोधिनी तथा षोडशग्रन्थों में प्रस्तुत की है, सर्वथा उसका ही अनुसरण करके प्रभुचरणने भी भाष्यपूर्ति की है.

फिर भी हालमें कुछ लोग केवल महाप्रभुके ग्रन्थोंको ही वाल्लभ मतके स्वरूपनिर्धारणार्थ मूलसाहित्य मान कर, प्रभुचरण प्रभृतिद्वारा विरचित साहित्यको व्याख्यासाहित्य मान कर, उसकी उपेक्षाका सुझाव देते है. कुछ अन्य लोग प्रभुचरणके चिन्तनको दामोदरदासकी विचारहीन भावुकतासे प्रभावित मान कर महाप्रभुके ज्येष्ठात्मज श्रीगोपीनाथजीकेद्वारा लिखित व्याख्या कैसी होती (!) अर्थात् वह महाप्रभुके मतके अधिक अनुरूप होती, ऐसा प्रभुचरणविरोधी पन्थ वल्लभसम्प्रदायके अन्तर्गत प्रसारित करना चाहते हैं. इन वल्लभपन्थिओं तथा गोपीनाथपन्थिओ द्वारा उद्भावित आपत्तिओंके समाधानार्थ अब हमें प्रस्तुत होना है.

प्रथम आक्षेप तथा समाधान

(आ.) अणुभाष्य (१।१।२) में महाप्रभु ब्रह्मको केवलोपनिषद्वेद्य मानते हैं अतः चतुर्थाध्यायमें उपनिषद्वाक्योंकी उपेक्षापूर्वक प्रभुचरणद्वारा भागवतवाक्योंका अधिकरणांगतया उपन्यास स्वयं महाप्रभुको अनभिप्रेत है.

(स.) उक्त स्थलपर आते **''तत्तु तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि इति केवलोपनिषद्वेद्यत्वाद् उपेक्ष्यम्'' वचनमें उपनिषदके अंगभूत न हों ऐसे अनुमानादि प्रमाणोंका व्यावर्तन 'केवल'पद द्वारा किया गया है. क्योंकि अनुपद ही ''अनधिगतार्थगन्तृत्वात् प्रमाणस्य मननिदिध्यासनयोः श्रवणांगत्वम्, सन्देहवारकत्वात् शास्त्रस्यापि तदंगत्वमिति (वहीं)''** वचनके आधारपर ब्रह्मसूत्र (या भागवत भी) सन्देहवारकतया उपनिषद्के अंगभूत है अर्थात् उपनिषत्से पृथक् नहीं है. यह सिद्ध किया गया है.

एक और तथ्य इसमें अवलोकनीय यह है कि शास्त्रार्थप्रकरणकी कारिका (११-२०) का सावधानीसे विचार करनेपर वर्तमान कलियुगमें कर्मज्ञानादि साधना अशक्यप्राय बन गयी है. कृष्णभक्ति किन्तु सदा-सर्वदा समर्थ उपकारक रहती है. ऐसी कृष्णभक्तिकी भागवतमूलिका साधन-फलात्मना विवेचना महाप्रभुको कथमपि अनभिप्रेत हो नहीं सकती और इसके

अलावा प्रभुचरणने कुछ किया नहीं है.

द्वितीय आक्षेप तथा समाधान

(आ.) सुबोधिनी आदि ग्रन्थोंमें साधन-फलाध्यायगत सूत्रोंकी जो व्याख्या स्वयं महाप्रभुके शब्दोंमें मिलती है. वह प्रभुचरणविरचित भाष्यांशगत व्याख्यासे भिन्न है. अतः सम्पूर्ण अणुभाष्य स्वयं महाप्रभुद्वारा लिखित मिलता होता तो प्रभुचरणद्वारा प्रपूरित अंशसे निश्चय ही विलक्षण होता.

(स.) सुबोधिनी आदिमें प्रदत्त सूत्रव्याख्या तथा प्रभुचरणकृत भाष्यपूर्तिवाले अंशके परस्पर भिन्नार्थक होनेकी बातको स्वीकार कर, साथ ही साथ, हम भी यह पूछना चाहेंगे कि स्वयं महाप्रभुविरचित भाष्यगत था सुबोधिनीगत सूत्रव्याख्याओंमें यदि कही भिन्नार्थकता उपलब्ध हो जाये तो क्या गति होगी? उत्तररूपेण : वही गति महाप्रभु तथा प्रभुचरण द्वारा प्रदत्त भिन्न-भिन्न व्याख्याओंकी भी स्वीकारनी चाहिये.

उदाहरणतया **''अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्''** सूत्रके स्वयं महाप्रभुचिरचित अणुभाष्यांश तथा सुबोधिनी (१।३।३०) में प्रदत्त उक्त सूत्रकी व्याख्यामें सर्वथा एकरूपता तो नहीं है. **''पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ''** (३।२।५) के अणुभाष्यमें 'पराभिध्यान' पदकी व्याख्या तथा इसी सूत्रका विमर्श करनेवाली भागवत (भाग.पुरा.३।२६।६-७) की कारिकामें आते 'पराभिध्यान'पदका अर्थ महाप्रभु पृथक्-पृथक् देते हैं. भाष्यस्थ अर्थ **''परस्य भगवतो अभितो ध्यानं स्वस्य एतस्य च सर्वतो भोगेच्छा तस्माद् ईश्वरेच्छया जीवस्य भगवद्धर्मतिरोभावः''** उपलब्ध होता है जबकि सुबोधिनीस्थ अर्थ- **''परा स्वतो भिन्ना या प्रकृति तस्या अभिध्यानेन तामेव आत्मत्वेन मन्यते. आत्मत्वेन ज्ञानम् अभिध्यानम्''** उपलब्ध होता है.

कुछ भाष्यकार तो कभी-कभी स्वयमेव एक ही सूत्रके दो

वर्णक लिख देते हैं तब जो समाधान स्वीकारना पड़ेगा, वही समाधान हम भी महाप्रभु तथा प्रभुचरण द्वारा प्रदत्त विभिन्न व्याख्यानोंका देना चाहेगें.

तृतीय आक्षेप तथा समाधान

(आ.) अत्यधिक स्वरूपसेवापरायणताके कारण प्रभुचरणोंको महाप्रभुविरचित ग्रन्थोंके व्यासंगका अवसर मिलता नहीं होगा. अतः स्वाभाविकतया पिता-पुत्रोंकी व्याख्यामें अनवधानवश भेद आ गया होना चाहिये. बाल्यकालमें महाप्रभुके लीलासंवरणके बाद दामोदरदास हरसानी जैसे भावुक वैष्णवोंकी संगतिके कारण भी प्रभुचरणमें गम्भीर दार्शनिक प्रश्नोंके प्रति महाप्रभुकी जैसी रुचि पनप नही पाई होगी. परिणामतः वही भावुकता गम्भीर चिन्तपर हावी हो गई होगी. और वही अणुभाष्यपूर्तिके समय भागवतपर अत्यधिक झोंकका हेतु बन गयी.

(स.) पिता तथा पुत्र के साहित्य तथा लेखनशैलीकी यह तुलना कोई स्वयं साक्षात् महाप्रभुके समक्ष करे तो वे क्या प्रतिक्रिया व्यक्त करते इसका थोडा-बहुत सम्भावित संकेत हमें महाप्रभुके इन वचनोंमें मिलता है :

बुद्धावतारे त्वधुना हरौ तद्वशगाः सुराः।
नाना मतानि विप्रेषु भूत्वा कुर्वन्ति मोहनम्॥
यथाकथञ्चित्कृष्णस्य भजनं वारयन्ति हि।
अयमेव महामोह हीदमेव प्रतारणम्॥
यत्कृष्णं न भजेत्प्राज्ञः शास्त्राभ्यासपरः कृती।
तेषां कर्मवशानां तु भवएव फलिष्यति॥

(त.दी.नि.१।१५-१६)

प्रेम्णोन्यत्साधनं लोके नास्ति मुख्यं परं महत्।
श्रीभागवतमेवात्र परं तस्य हि साधनम्॥

(त.दी.नि.२।३२६)

सचमुचमें यदि किसी आधुनिक गोपीनाथपन्थी या वल्लभपन्थी का महाप्रभुके साथ किसी 'होट-लाइन'पर कॉन्टेक्ट हो जाये तो उक्त श्लोकोंमें अपना उत्तर सुना कर शीघ्र ही महाप्रभु लाइन्को डिस्कनेक्ट कर देंगे! इसमें दो राय हो नहीं सकती. महाप्रभु कृष्णसेवापरायणताको शास्त्राभ्यासका फल मानते हैं शास्त्राभ्यासमें व्यवधान नहीं. प्रभुचरण भी अपने पिताकी भावनाके अनुरूप भागवतको सर्वोपरि फलके प्रापक साधनका प्रतिपादक ग्रन्थ मानते हैं.

चतुर्थ आक्षेप तथा समाधान

(आ.) महाप्रभुके ज्योष्ठात्मज श्रीगोपीनाथजीके सभी ग्रन्थ आज यदि उपलब्ध होते अथवा यह भाष्यपूर्ति उनकी लेखनीसे हुई होती तो यह महाप्रभुको अभिप्रेत सैद्धान्तिक दिशाके अभिमुख अधिक होती.

(स.) कठिनाई बात यह है कि गोपीनाथपन्थी लोग महाप्रभुके ग्रन्थोंका तो समुचित स्वाध्याय तो करते नहीं तथा श्रीगोपीनाथजीविरचित उपलब्ध एकमात्र साधनदीपिकाका भी धैर्यपूर्वक अध्ययन नहीं करते हैं. अतः हम तो यह कहना चाहेंगे कि यदि श्रीगोपीनाथजीद्वारा की गयी भाष्यपूर्ति, उपलब्ध प्रभुचरणकृत भाष्यसे अतिशय भिन्न होती, तो निश्चयेन महाप्रभुके अन्य ग्रन्थोंसे उसकी संगति बिठा पाना बड़ी दुष्कर बात बन जाती.

जहां तक साधनदीपिकाकी प्रतिपादन शैलीका प्रश्न है तो वहां यह स्पष्ट किया ही गया है कि वेदान्तसूत्रव्याख्यान (अर्थात् भाष्य) सम्मत तथा भक्तिशास्त्र के अनुसार साधनदीपिकाकी रचना श्रीगोपीनाथजीने की है. इससे प्रतीत होता है कि महाप्रभुविरचित सम्पूर्ण साधनाध्याय ग्रन्थकर्ताको उपलब्ध रहा होगा. रही बात भक्तिशास्त्रकी तो सम्भवतः वह भागवत पञ्चरात्र या निबन्ध अथवा षोडशग्रन्थ में से कोई एक या चारों भी हो सकते हैं. किसी भी स्थितिमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यहां यह है कि श्रीगोपीनाथजी भागवतानुसरणद्वारा श्रवण-मनन-

निदिध्यासनरूप अन्तरंग अंगोका भक्तिरसात्मिका भगवदाराधनाके अंगत्वेन ही अनुष्ठान स्वीकारते हैं : ''**आत्मा वारे इति श्रुत्या दर्शनैकफलो विधिः श्रवणाद्यैः प्रतिज्ञातस्तं भजेत् तं रसेदिति, तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्, पुरुषस्याविशेषेण संसारं प्रजिहासतः हरेराराधने मुक्तिः तत्प्रकारो निरूप्यते, माहात्म्यज्ञानपूर्वो हि सुदृढ सर्वतोधिकः स्नेहो भक्तिः इति प्रोक्तः तया मुक्तिः न च अन्यथा. माहात्म्यज्ञापनायैव श्रवणं गुणकर्मणां, शास्त्राणाम् उपयोगोऽत्र तत्राकांक्षा गुरोः भवेत्, कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरं श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेद् जिज्ञासुरादरात्**'' (सा.दी.५-१०).

ऐसी स्थितिमें गुरु तो स्वयं श्रीभागवततत्त्वज्ञ तथा श्रीकृष्णकी पुष्टिमार्गीय सेवामें परायण होगा और शिष्यको क्या केवल उपनिषत्प्रोक्त मर्यादामार्गीय उपासनाओंका ही उपदेश देगा? इससे अधिक ''मनस्यन्यद् वचस्यन्यद्'' और क्या हो सकता है?

रही बात महाप्रभुको अभिप्रेत साधन-फलके स्वरूपकी तो वहां भाष्य न भी उपलब्ध होता हो न सही परन्तु अधोलिखित कारिकायें तो आपके साधन-फलसम्बन्धी हार्दको प्रकट करनेवाली पर्याप्त स्पष्ट शब्दोंमें मिलती है :

तस्मात् सर्वं परित्यज्य दृढविश्वासतो हरिम्।
भजेत् श्रवणादिभ्यो यद्विद्यातो विमुच्यते॥
ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानाम् आत्मनैव सुखप्रमा।
संघातस्य विलीनत्वाद् भक्तानां तु विशेषतः॥
सर्वेन्द्रियैस्तथा चान्तःकरणैः आत्मनापि हि।
ब्रह्मभावात् तु भक्तानां गृहएव विशिष्यते॥
मोहार्थशास्त्रकलिलं यदा बुद्धेर्विभिध्यते।
तदा भागवते शास्त्रे विश्वासस्तेन सत्फलम्॥

(त.दी.नि.१।४९-५२)

प्रभुचरणकृत भाष्यपूर्ति महाप्रभुके इन्हीं वचनोंसे प्रेरित है.

सिद्धान्ततः उल्लेखनीय इसमें यही है कि कर्ममार्ग ज्ञानमार्ग मर्यादाभक्तिमार्ग पुष्टिभक्तिमार्ग या प्रपत्तिमार्ग मेंसे किसी भी एक मार्गके साधकको जब-तक देहाभिमान रहता है, तब तक शास्त्रविहित निज वर्णाश्रमादिके कर्तव्योंके त्यागकी उसे अनुमति नहीं है. देहाभिमानके निवृत्त होनेपर वे यदि न भी निभ पायें तो कोई आपत्ति नहीं. शास्त्रविहित कर्तव्योंका यथाशक्ति निर्वाह करते हुए यथाधिकार निष्ठापूर्वक स्वस्वमार्गोंका अनुसरण सभीके लिए आवश्यक है. फलरूपेण तत्तद् अधिकारिओंको यथामार्ग - आत्मसुख, जीवन्मुक्ति, अक्षरब्रह्मसायुज्य, सालोक्यादि चतुर्विध मुक्ति, अलौकिकसामर्थ्य सेवोपयोगिदेह वैकुण्ठादिषु अथवा कृष्णसायुज्य रूप फलकी प्राप्ति होती है. यही साधनफलाध्यायका निष्कर्ष है. यह सभी कुछ महाप्रभुके अन्यान्य ग्रन्थोंमें सिद्ध सिद्धान्तको ही प्रभुचरणनें भी भाष्यपूर्तिमें सूत्रारूढ किया है. तत्तत् मार्गोंमें श्रवण-मनन-निदिध्यासनके प्रकारोंमें मार्गभेदानुरोधवश भेद तो रहेगा ही.

पञ्चम आक्षेप तथा समाधान

(आ.) अणुभाष्य (१।१।३) के **"तस्मात् न्यायोपबृंहितसर्ववेदान्तप्रतिपादित सर्वधर्मवद्-ब्रह्म (१-२) तस्य श्रवणमननिदिध्यासनैः अन्तरंगैः शमदमादिभिश्च बहिरंगैः (३) शुद्धे चित्ते स्वयमेवाविर्भूतस्य स्वप्रकाशस्य सायुज्यं (४) परमपुरुषार्थः"** इस वचनमें अणुभाष्यका एक प्रारूप जैसा कुछ महाप्रभु इंगित कर रहे हैं. यहां कोष्ठकमें दिये गये अंकोसे उन-उन अध्यायार्थोंका निष्कृष्ट अर्थ सूचित हो रहा है. जहां तक प्रथम-द्वितीय अध्यायोंका प्रश्न है तो वहां स्वयं महाप्रभुविरचित अंश उपलब्ध होता ही है. साधन-फल सम्बन्धी स्वरूपके निर्धारार्थ यह कहा जा सकता है कि इस प्रारूपके साथ प्रभुचरणपूरित अंशका स्पष्ट संवाद दृष्टिगत नहीं होता.

(स.) शमदमादि बहिरंग उपाय श्रवणमननादि रूप अन्तरंग उपायोंका

कोई विशिष्ट स्वरूप तो यहां दिखलाया गया नहीं है. अतः यथायथ सभी मार्गोमें शमादि तथा श्रवणादि के स्वरूप भिन्न-भिन्न हो ही सकते हैं. अतएव नवधाभक्तिमें श्रवण-मनन-निदिध्यासनका अन्तर्भाव स्वीकारा गया है.

इसी तरह फलस्वरूप के विवेचनमें प्रयुक्त **''शुद्धे चित्ते स्वयमेव आविर्भूतस्य स्वप्रकाशस्य सायुज्यं परमपुरुषार्थः''** शब्दावलीके बारेमें भी यह अवधेय है कि महाप्रभुके मतमें अक्षरब्रह्मसायुज्य तथा पुरुषोत्तम (कृष्ण) सायुज्य में तारतम्य स्वीकारा गया है (द्रष्टः त.दी.नि.३।४।१५५) यहां कृष्णसायुज्यको उत्कृष्ट गिना गया है. सेवाफल तथा सुबोधिनी के अवलोकनसे कृष्णसायुज्यसे भी अलौकिकसामर्थ्य तथा सेवोपयोगिदेहवैकुण्ठादिषु अर्थात् तनुनवत्व और नवतनुत्व रूप फलोंको उत्कृष्ट माना गया है. ऐसी स्थितिमें या तो महाप्रभुको अभिमत इस मुक्तितारतम्यके सिद्धान्तका प्रत्याख्यान करना पड़ेगा, या अन्यत्र विवक्षित माननेपर भी यहां ब्रह्मसूत्रोंमें उसे अविवक्षित माननेपर, **''एतच्चतुष्टयम् एकवाक्यतापन्नं प्रमाजनकम्''** के सिद्धान्तको तिलाञ्जली देनी पड़ेगी.

प्रभुचरण-प्रपूरित भाष्य इन दोनों आपत्तिओंसे बचते हुवे सूत्रोंकी व्याख्या करनेका प्रयास है. यह निःसन्दिग्धतया कहा जा सकता है.

षष्ठ आक्षेप तथा समाधान

(आ.) एक आक्षेप यह भी किया जा सकता है कि प्रमाणचतुष्टयमें अन्तिम तथा सर्वसन्देहवारक होनेसे सूत्रगत सन्देहोंका निराकरण भागवतके आधारपर किया जाना चाहिये था जबकि प्रभुचरणकृत भाष्यपूर्तिमें भागवतवचनोंमें अथवा तन्मूलक धारणाओंमें उठते सन्देहोंका निवारण सूत्रके आधारपर किया गया है. यह महाप्रभुको अभिप्रेत क्रमसे विपरीत है. वैसे भी वेदशाखाविभाजनके बाद तथा महाभारत तथा इतरपुराणों के प्रणयनके बाद भागवतप्रणयनार्थ वेदव्यास प्रवृत्त हुवे थे. अतः सूत्राधिकरणांगतया भागवतके वचन या सिद्धान्त विषयवाक्य नहीं बन

सकते.

(स.) सिद्धान्ताभिमत इतिहासके अनुसार भी सूत्रकारसे बहुत बादमें प्रकट होनेवाले बौद्धादि मतों तथा शांकर मत का निवारण भी जब सूत्रोंद्वारा किया जाना स्वीकारा जाता है; और स्वयं महाप्रभु भी स्वीकारते है,[१] तब भागवत और सूत्र के कर्तामें भेद तो सिद्धान्ताभिमत है नहीं, **''दर्शनाच्च''** (ब्र.सू.३।२।२१) सूत्रके भाष्यमें स्वयं महाप्रभु भी **''चकाराद् उलुखलबन्धनादि प्रत्यक्षमेव उभयसाधकं दृष्टमिति''** कह कर सूत्रघटक **चकार**द्वारा भागवतके उलूखलबन्धप्रसंगको विवक्षित मानते हैं. उस स्थितिमें सर्वसन्देहवारक चतुर्थ भागवतको स्वयं महाप्रभु भी तृतीय कोटीमें स्थापित कर रहे हैं.

सिद्धान्ततः प्राथम्य वैसे तो श्रौत वचनोंका है, जिसके सन्देहवारणार्थ उत्तरोत्तर गीता-सूत्र-भागवत प्रवृत्त हुवे हैं, इसका अर्थ यह नहीं कि पूर्वशास्त्रके किसी वचनमें उत्तरशास्त्रका कोई अर्थ विवक्षित नहीं हो सकता. गीतामें जैसे **''ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिः विनिश्चितैः''** (भग.गीता १३।४) उपलब्ध होता है उसी तरह ब्रह्मसूत्रमें भी **''अपिस्मर्यते''** (ब्र.सू.१।३।२३) वचनद्वारा गीताकी भी पूर्वसिद्धता द्योतित होती है.

महाप्रभुके अनुसार तो वेदोंकी शब्दराशिकी तरह पुराणोंकी शब्दराशि नित्य है. तथा 'वेदव्यासप्रणीत' कहनेका अर्थ भी, मन्त्रदृष्टा ऋषिओंद्वारा समाधिमें दृष्ट उन वेदमन्त्रोंकी, उपलब्धिकी तरह ही समझना चाहिये. नूतन निर्माणके अर्थमें नहीं. अतएव महाप्रभु कहते हैं- **''पुराणं वेदवत् पूर्वसिद्धं...नित्यम् इति अर्थः''** (त.दी.नि.२।४८).

अतः उपनिषदर्थनिर्धारणार्थ असम्भावना-विपरीतभावनारहित अधिकारि-ओंके लिए तो स्थूणाखननन्यायेन **''एतच्चतुष्टयम् एकवाक्यतापन्नं**

१.द्रष्ट.सर्वज्ञेनहि वेदव्यासेन भाविमिथ्यात्वनिराकरणेन इदम् आरब्धम् (ब्र.सू.भा.१।३।-१५)

प्रमाजनकम्'' आदर्श अपेक्षित है. जबकि असम्भावना-विपरीतभावना रूप सन्देहादिसे कलुषित चित्तवाले अधिकारिओंकेलिए **''उत्तरं पूर्वसन्देहवारकम्''** आदर्श समुच्चित होगा ऐसा भी कहा जा सकता है.

सप्तम आक्षेप तथा समाधान

(आ.) कुछ लोगोंका कहना है कि सिद्धान्ततः सुसंगत होनेपर भी प्रभुचरणकी लेखनशैलीमें महाप्रभुके जैसा दार्शनिक गाम्भीर्य नहीं झलकता है.

(स.) कुछ न कुछ दोष तो कहीं भी खोजे जा सकते है. महाप्रभुकी लेखनशैलीमें भी न्यूनपदता अस्पष्टता आदि दोष आलोचकोंने खोजे हैं. ''भिन्नरुचिर्हि लोकः!''

अष्टम आक्षेप तथा समाधान

(आ.) एक महानुभाव वक्ताको एक बार निजी वार्तालापमें हमने यह कहते सुना कि हम पुष्टिमार्गके अनुयायी तो श्रद्धावश प्रभुचरणकी भागवतावलम्बिनी विचारशैलीको उचित मान लेंगे परन्तु आधुनिक विश्वविद्यालयोंके विद्वान् अन्वेषकों तथा प्राध्यापकों की गोष्टीमें इसे मान्यता दिलवाना जरा कठिन काम है!

(स.) मुझे श्रीरामानुज मतके विद्वान् श्रीवेदान्तदेशिककी एक उक्ति याद आती है :

मीमांसायाः कबन्धं कतिचन जग्रहुः राहुकल्पं शिरोन्ये
किन्तैः अन्तर्विरोधप्रमुषितमतिभिः बाह्यकल्पैः भ्रमद्भिः।
स्वाध्यायाध्यायकात्स्न्र्ये स्वविधिपरविधिप्रेरणा तावदास्तां
कृत्स्नापातप्रतीतौ किमिति कृतधियः कृत्स्नचिन्तां न कुर्युः॥

अर्थात् कुछ लोग शास्त्रमीमांसाके केतुके जैसे धडकी उपासना करना चाहते है. जबकि दूसरे केवल राहुके जैसे मस्तककी उपासना

करना चाहते है. ये दोनों ही अन्तर्विरोधग्रस्त विचारधाराओंमें फंसे अशास्त्रीय मतोंके कारण भ्रान्त हैं. क्योंकि **''स्वाध्यायो अध्येतव्यः''** श्रुतिवचन यदि पूर्वोत्तर दोनों काण्डोके अध्ययनका विधान करता है तो मीमांसा भी दोनों काण्डोके अर्थोकी करनी चाहिये.

यद्यपि श्रीवेदान्तदेशिकका तात्पर्य पूर्वोत्तरमीमांसाको एकशास्त्र सिद्ध करनेका है, फिर भी उसी बातको ''प्रमाणं तच्चतुष्टयम्'' की एकशास्त्रताके रूपमें थोड़ी देरकेलिए ले लिया जाये तो हमारी बात समझनेंमें कठिनाई नहीं होगी. अन्तर्विरोधग्रस्त बाह्य विचारधाराओंसे प्रभावित विश्वविद्यालयीय आधुनिक लेखकोंको हमारी प्राचीन परम्परावादी मान्यता स्वीकार्य न हो तो उनसे मनवानेके मोहसेवनकी क्या आवश्यकता है?

संविधानमें सौ बार संशोधन करनेपर भी उसका एक अखण्डित प्रामाण्य माना जाता है. बायबलप्रामाण्यवादी ईसाईओंकेलिए भी पूर्वकाण्ड (ओल्डटेस्टामेन्ट्) तथा उत्तरकाण्ड (न्यू टेस्टामेन्ट्) का प्रामाण्य अखण्डित माना जाता है. अद्यावधि पोप यदि अपने पदाधिरूढतया कोई घोषणा करते हैं तो पूर्वविरुद्ध होने पर भी ईसामसीहके आदेशवत् ही उन्हें प्रमाणतया मान्य किया जाता है. ये सारे के सारे उत्तरोत्तर-सन्देहवारक प्रामाण्यवादकी धारणापर अवलम्बित प्रकार हैं.

यह तो ठीक है कि एक ईसाई या हिन्दू जैसे अपनी परम्पराका प्रामाण्य स्वीकारेगा वैसे अन्य धर्मकी परंपराका प्रामाण्य स्वीकार नहीं कर पायेगा. संविधानके उत्तरोत्तर संशोधनोंका प्रामाण्य हठात् स्वीकारने पर भी धार्मिक शास्त्रोंमें वैसा भाव किसी अधार्मिकका जग नहीं पायेगा. यह सब तो समझमें आनेवाली बात है. परन्तु प्रमाणचतुष्टयान्तर्गत प्रत्येक शास्त्रको प्रमाण मान कर प्रवचन करनेवाला वक्ता यदि चारोंकी एकवाक्यताके प्रयासमें सन्देह करने लग जाये तो बात फिर समझमें आनी बन्ध हो जाती है.

रही बात आधुनिक विद्वानोंकी तो उन सभीका कोई एक मत तो है ही नहीं. किसीके अनुसार भागवत छठी शताब्दीमें वेदव्यासके नामसे दक्षिण भारतमें लिखा गया ग्रन्थ हैं. भागवप्रतिपाद्य श्रीकृष्णावतार आजसे पांच हजार वर्ष पूर्व वस्तुतः हुवा था कि नहीं इसपर भी आधुनिक विद्वानोंमें एक राय नहीं है. अणुभाष्यके इस आद्य संस्करणके सम्पादकके आत्मज विश्वविख्यात इतिहासविद् द्वारकाके उत्खननद्वारा उपलब्ध सामग्रीके अध्ययनके बाद भी द्वारकाधीश श्रीकृष्णकी ऐतिहासिकताको सन्दिग्ध ही मानते हैं. बहुतसे इतिहासविद् भागवतकार तथा ब्रह्मसूत्रकार व्यास एक ही हैं ऐसा स्वीकारनेको उद्यत नहीं. वेदव्यास तथा बादरायण का श्रीशंकराचार्य कहीं एक व्यक्तिके रूपमें स्वीकारते नहीं है, अतः दोनोंको एक माननेकी धारणा शंकरोत्तरकालकी देन हैं, ऐसा भी कुछ विद्वान् कहते है. समग्र ब्रह्मसूत्र एक ही व्यक्तिकी रचना है, यह भी सन्दिग्ध माना जाता है. क्योंकि प्रारम्भमें केवल छान्दोग्योपनिषद्के ही सूत्र थे जिन्हें बढा-चढाकर समग्र उपनिषदोंके बारेमें बना दिया गया है. वस्तुतः तो विभिन्न उपनिषद् भी विभिन्न कालकी उपज होनेसे विभिन्न विचारधाराके प्रतीक हैं. जिनपर एक तरहकी मान्यता थोपना उनसे खिलवाड है ऐसा भी कई आधुनिक विद्वान् मानते हैं. गुजरातके प्रसिद्ध विद्वान् श्री के.का.शास्त्री महाभारतमें गीताके मूल सौ श्लोकोंको प्रक्षिप्त मानते हैं तथा उन सौ श्लोकोंमें पुनः छह सौ श्लोकोंको प्रक्षिप्त मानते हैं. प्रसिद्ध संस्कृतभाषाविद् फादर एस्टेला ऋग्वेदके भीतर भी मूल मन्त्रकर्ता तथा संहिताकार ऋषियोंके बीच अन्तरालवश अविच्छिन्न शब्दानुपूर्वकि सिद्धान्तको स्वीकारते नहीं है जबकि इसी सिद्धान्तपर तो हमारा वेदप्रामाण्यवाद टिका हुआ है.

इन विद्वानोंकी सहमति प्रभुचरणकृत भागवतोपजीवनपर मिल भी गयी तो सर्वनाशी मूलोच्छेदके बाद फल कब तक प्राप्त हो पायेगा? कहीं इनकी सहमति प्राप्त करनेके मोहमें स्वयं हमारे मनके भीतर हम भी भागवतको अप्रमाण माननेकी कोई परत तो संजोये हुवे

नहीं बैठे है? यह हमें भी भीतर झांक कर एक बार देख लेना चाहिये!

महाप्रभु कहते हैं -

इदमेव विनिश्चित्य कृष्णो ह्यर्जुनमब्रवीत्।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
एवकारेण सर्वेषाम् अनुपायत्वम् आह हि।
ज्ञानादीनां हि सर्वेषां तदधीनत्वतः सदा।
विश्वासं सर्वतस्त्यक्त्वा कृष्णमेव भजेद् बुधः॥
आपाततस्तु सर्वेषाम् उपायत्वं मयोदितम्।
विष्णोः कृपाविशिष्टानां तत्फलं नान्यथाभवेत्॥

(त.दी.नि.२।३०४-३०७)

प्रभुचरण तो महाप्रभुके इस उपदेशसे सर्वथा प्रतिबद्ध है. परन्तु जब तक हम इस तरह प्रतिबद्ध न हो पायेंगे तब तक न महाप्रभु और न प्रभुचरण के ही लेखनकी पृष्ठभूमिमें रही भावनाओंसे हम परिचित हो पायेंगे. किमधिकम्...

श्रीकृष्णाय नमः

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः

।। असौत्रशंकानिरासवादः ।।

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विट्ठलेश्वरः प्रभुः श्रीमान्॥
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिः जयति॥ १॥

वागार्थाविव राजेते ग्रन्थकृष्णौ हि यन्मुखे।
वक्तारं तं विभुं वन्दे तद्वागर्थोपलब्धये॥ २॥
श्रीवल्लभमताभ्यासे कृपया येन दीक्षितः।
दीक्षितं तमहं नौमि श्रीतातचरणं सदा॥ ३॥
स्वेषु पुष्टिकरं कारादैत्यबुद्धितमस्करम्।
नमस्करोमि तं श्यामं सुन्दरं मत्प्रियङ्करम्॥ ४॥
भुवि भागवतस्याविष्करणप्रेरणात्पुरा।
सूत्रेषु भगवद्भक्तेः भक्तानां फलसाधने॥ १॥
विवक्षुरपि नावोचद् भगवान् बादरायणः।
शब्दशस्तेषु भाष्येऽस्मिंस्तद्वक्तारं नमाम्यहम्॥ २॥
पुष्टिमर्यादयोर्भेदः फलसाधननिर्णये।
असौत्र इति केषाञ्चिन्मतिरल्पदृशामिह॥ ३॥
श्रीमत्प्रभुकृते भाष्ये तदज्ञानं निवार्यते।
उभयाचार्यकृद्भाष्ये मा भूद् भ्रान्तो हि कश्चन॥ ४॥
प्राक्सृष्टेर्हि यथाऽभेदो ब्रह्मणस्तत्त्वतः श्रुतः।
जडजीवौ ततो भिन्नावात्मन्येवात्मना कृतौ॥ ५॥
फलसाधने तथा ज्ञानभक्त्योर्नोक्ते हि शब्दशः।
तारतम्येन सूत्रेषु प्राक्समाधेः विवक्षुणा॥ ६॥
ज्ञानावतारव्यासेन प्रोक्ते भागवते ततः॥

विवक्षैक्येऽपि हि तयोः शब्दभेदोवभासते ॥७॥
तत्राग्रहिलताज्ञस्य भेदे ब्रह्माविजानतः ॥
भेदं पश्यन्नप्यभेदं श्रुतिज्ञो मनुते यथा ॥
तथा भागवतात्सूत्रं मूर्खो भिन्नन्तु पश्यति ॥
वेदान्तकोविदो वेत्ति शब्दभेदेप्यभिन्नताम् ॥९॥
वक्तुः व्यासस्य तात्पर्यं तूभयत्रावधार्यते ॥
भक्तानां दशमोक्तानां साधनानि फलानि च ॥१०॥
अन्त्याध्याद्वये भाष्यकृताप्याविष्कृतानि हि ॥
ननु सूत्रेष्वनुक्तानाम् अर्थानां स्फोरणादिह ॥११॥
असौत्रं भाष्यमित्येषा ह्यापत्तिर्महती स्फुटा ॥
इति चेद्,
तद् न वै युक्तं तथा लोकेऽपि दर्शनात् ॥१२॥
कदाचित्कस्यचिद् वक्तुः स्वाभिप्रायप्रकाशने ॥
श्रोतावधार्याऽसामर्थ्यं तद्वाक्यं पूरयत्यपि ॥१३॥
ऊहश्चैतादृशो नैव लोकेऽपार्थ उदीर्यते ॥
वक्त्रनुक्तत्वमात्रेण नायमूहो निरर्थकः ॥१४॥
सोऽयमूहः स्वतन्त्रो नो किन्तु भागवताश्रितः ॥
न चाप्रामाणिकस्तस्माच्छास्त्रप्रामाण्यवादिने ॥१५॥
''पराशर्य महाभाग भवतः क्वचिदात्मना ॥
परितुष्यति शारीर आत्मा मानसएव वा ॥॥
जिज्ञासितमधीतं च यत्तद् ब्रह्म सनातनम् ॥
तथापि शोचस्यात्मानमकृतार्थइव प्रभो ! ॥
(भाग.पुरा.१।५।२-४)
इत्येवं नारदेनात्र पृष्टः प्राहः स्वयं मुनिः ॥
''अस्त्येव मे सर्वमिदं त्वयोक्तं
तथापि नात्मा परितुष्यते मे ॥

तन्मूलम् अव्यक्तम् अगाधबोधं
पृच्छामहे त्वात्मभवात्मभूतम्॥(भाग.पुरा.१।५।५)
तदा तत्र समाधानं नारदेनानुवर्णितम्॥१६॥
"अथो महाभाव भवान् अमोघदृक्
शुचिश्रवा सत्यरतो धृतव्रतः॥
उरुक्रमस्याखिलबन्धमुक्तये
समाधिनानुस्मर तद्विचेष्टितम्॥
ततोऽन्यथा किञ्चन यद् विवक्षतः
पृथग्दृशस्तत्कृतनामरूपभिः॥
न कुत्रचित्क्वापि च दुःस्थिता
मतिर्लभेत वाताहतनौरिवास्पदम्॥(भाग.पुरा.१।५।१३-१४)
तस्मादेतेषु सूत्रेषु चेदन्यद् वर्णितं यदि॥
तेनैव दुःस्थिता नूनं मतिस्स्यान्नात्र संशयः॥१७॥
अतस्तदनुसारित्वं फलसाधननिर्णये॥
विवक्षैक्यवशात्प्राह प्रभुः श्रीविट्ठलेश्वरः॥१८॥
उपलब्धं भवेद् भाष्यं श्रीमदाचार्यनिर्मितम्॥
श्रीमत्प्रभुकृतान्नूनं भिन्नं स्यादिति जल्पनम्॥१९॥
सिद्धान्तज्ञानशून्यानां स्वयं पण्डितमानिनाम्॥
दुर्बोधायाः सुबोधिन्याः शब्दमात्रविदामिह॥२०॥
तत्रेदमेव पृष्टव्यम् 'अरूपे'त्यादि(ब्र.सू.३।२।१४)सूत्रगम्॥
भाष्यं सुबोधिनीस्थेन(सुबो.१।३।३०) पदार्थेन विरुध्यते॥२१॥
का गतिस्तत्र कर्त्रैक्ये कर्तृभेदेऽपि सा गतिः॥
अन्येषामपि भाष्येषु यथा वर्णकभेदतः॥२२॥
अर्थद्वयांगीकारेण सूत्रैक्येऽपि तथा भवेत्॥
भाष्ये यद् वर्णितं श्रीमत्प्रभुभिः तन्न भिद्यते॥२३॥
दशमस्य सुबोधिन्यां श्रीमदाचार्यवर्णिताद्॥

फलसाधनसिद्धान्तादभीष्टादुभयोः सदा ॥२४॥
नन्वस्मिन् विषये काश्चिच्छंकाः सन्त्यसमाहिताः ॥
सूत्रान्तरजातत्वात्[१] तद्व्याख्यानतयापि[२] च ॥२६॥
सूत्रेषु क्वापि हेतुत्वेनानुपन्यासतस्तथा[३] ॥
स्मृतेरिव तथान्यैश्चाचार्यैर्ग्रहणादपि[४] ॥२६॥
सूत्राधिकरणांगत्वेनानुक्त्वादपि[५] स्फुटम् ॥
पुरुषस्यौपनिषदस्य पृष्टव्यस्य च वर्णनात् ॥२७॥
श्रुतौ पौराणिकस्यात्र कथं वर्णनमुच्यते[६] ॥
वेदान्तसम्प्रदायानां प्रस्थानत्रयवादिनाम् ॥२८॥
पौराणिकः प्रमेयश्चेत् पुराणे स्यात् प्रमाणता[७] ॥
कर्तृसन्देहतश्चापि तथा भागवतस्य च ॥२९॥
प्रामाण्यमपि सन्दिग्धं[८] प्रौक्तैर्हेतुभिरष्टभिः ॥
श्रीमत्प्रभुकृतं भाष्यं तस्मात्स्यादसमञ्जसम् ॥३०॥
अत्र ब्रूमो वयं हेतुः प्रथमो दुष्टएव हि ॥
आनन्तर्यं त्वन्यथैव नेयं नित्यत्ववर्णनात् ॥३१॥
'अनुस्मरे'ति पदतः नारदोक्तौ सनातनम् ॥
नूनमेत्पुराणन्तु सिद्धं कुर्वित्यभावतः[१] ॥३२॥
व्याख्येयकोटौ व्याख्यानस्य नयनं मतम् ॥३३॥
एककर्तृतया तत्र दोषो भाव्यो न कश्चन[२] ॥
निखिलाचार्यभाष्येषु स्मृत्यादिपदतो वयम् ॥३४॥
पुराणोक्तिविवक्षां किं क्वचिन्नोपलभामहे ? ॥
तेन नेह मतौ हेतू द्वितीयोत्तरभाविनौ[३-४] ॥३५॥
सूत्रमान्यश्रुतौ स्पष्टं पुराणं वेदवन्मतम्[५] ॥
ज्ञेयमंगांगिभावेन शास्त्रयोनौ परे तु तत्[६] ॥३६॥
वेदान्तसम्प्रदायानां प्रस्थानत्रयवादिनाम् ॥
प्रस्थानत्वञ्च प्रामाण्यं नैव चैकमिति स्थितिः ॥३७॥

नोचेच्छास्त्रेषु भूयान् हि भागो वैयर्थ्यमाप्नुयात्[७]॥
श्रीमद्भागवतस्यात्र प्रामाण्यादिकृते पुरा॥३८॥
नरोत्तमैः बहूपक्रान्तत्वान्नेह वितन्यते[८]॥
सर्वं समञ्जसं तस्मात् श्रीमत्प्रभुकृताविह॥३९॥
असमञ्जसैका बुद्धिः सा याऽसमञ्जसमीक्षते॥
उभयाचार्यकृद्भाष्ये मा भूद् भ्रान्तो हि कश्चन॥४०॥
इत्येवं साधनाध्याये फलाध्याये च शंकिता॥
असौत्रता स्वमार्गीयैरपि सा खण्डिता मया॥४१॥
गोस्वामिना श्याममनोहरेण श्रीविट्ठलेशांघ्रिरजोधनेन॥
तोद्यं कुचोद्यं विलयाय नीतं भाष्ये तदीयैककृपाबलेन॥४२॥

इति श्रीगोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण विरचितः
साधनफलाध्याययोः असौत्रताशंकानिरासवादः

उद्धृतवचनानुक्रमणिका

अक्षरं परमात्मैव...	(अणुभा.१।३।१०)	२८
अंगाद् अंगात् सम्भवसि...	(शतप.ब्राह्म.१४।९।४)	३२
अजातपक्षा इव मातरं...	(भाग.पुरा.६।११।२६)	५६
अजायमानो बहुधा विजायते...	(तैत्ति.आर.३।१३।१)	५५
अतो भौतिकी शुद्धिः...	(सि.र.लालू.टी.५)	५९
अथ श्रीमत्प्रभुचरणाः श्रीमदाचार्याणां...	(यमुना.पुरु.वि.१)	६७
अथवा सर्वरूपत्वात् नामलीलाविभेदतः...	(त.दी.नि.१।९)	७८
अनन्तश्च अस्मि नागानाम्...	(भग.गीता१०।२८)	३२
अन्यथा सर्वदोषाणां न...	(सि.र.४)	५९
अपिस्मर्यते...	(ब्र.सू.१।३।२३)	१०३
अथो महाभाव भवान्...	(भाग.पुरा.१।५।१३)	११०
अर्थोऽयमेव निखिलैरपि वेदवाक्यैः	(त.दी.नि.१।१११)	५२,७८
अहम् आत्मा आत्मनां...	(भाग.पुरा.३।९।४२)	५५
अहन्यापृतं निशि...	(भाग.पुरा.२।७।३१)	८६
अस्त्येव मे सर्वमिदम्...	(भाग.पुरा.१।५।५)	११०
आचार्यदेवो भव...	(तैत्ति.उप.१।११।२)	२५
आचार्यरत्नसर्वानुग्रहकृन्मंत्रवित्तमः...	(नामर.स्तो.२३)	६३
आचिनोति हि शास्त्राणि...	(द्वयोप.३)	६३
आत्मा वारे इति श्रुत्या...	(सा.दी.५-१०)	१००
आत्मारामोप्यरीरमत्...	(भाग.पुरा.१०।२६।४२)	५६
आत्मा वै पुत्रः उत्पन्नः...	(भाग.पुरा.१।७।४५)	३२
इदमेव ब्रह्मज्ञानम्...	(ब्र.सू.भा.१।२।१)	८९
इवे प्रतिकृतौ संज्ञायाञ्च...	(पाणि.सू.५।३।९६-९७)	२८
उपनीय तु यः शिष्यं वेदम्...	(मनुस्मृ.२।१४०)	२६
ऋग् यजु साम और अथर्व...	(महाना.ता.नि.१।३०-३२)	७३

एतच्चतुष्टयम् एकवाक्यतापन्नं...	(त.दी.नि.प्र.१।७)	७७
एषः ह्येव एनं साधु कर्म...	(कौषी.उप.३।९)	८७
ऐतद् आत्म्यम् इदं सर्वं सः...	(छान्दो.उप.६।८।७)	८३
ऐसे वल्लभाचार्यके...	(श्रीमहा.व.तथा वंशजोकी जगदीश यात्रा पृ.१५-२३)	४५
कनिष्ठभ्रातुः सुखदाता पुनः...	(वल्लभा.भावदी.९।३)	३७
कलेः बलिष्ठत्वेन अग्रिमेषु...	(त.दी.नि.आ.भं.२।२२८)	६७
काव्यादीनां न धर्मोपयोगः...	(त.दी.नि.प्र.२।७९)	४१
कृषिः भू वाचकः शब्दः...	(गो.पू.उप.१।१)	५५
कृष्णसेवापरं वीक्ष्य इति...	(त.दी.नि.प्र.२।२२७-२२८)	६८
कृष्णसेवापरं वीक्ष्य...	(त.दी.नि.२।२२७)	६७
क्रीडार्थम् आत्मनः इदं...	(भाग.पुरा.८।२२।२०)	५७
गुणातीतास्तु ये भक्ताः...	(त.दी.नि.३।५।९३)	४६
गुहायां हृदयाकाशे यद्...	(अणुभा.२।१।११)	४१
गोप्यः कामाद् भयाद्...	(भाग.पुरा.७।१।३०)	८६
गृहं सर्वात्मना त्याज्यं...	(त.दी.नि.२।२५०-२५१)	५९,६९
ग्रन्थकर्तुः श्रीगोपीनाथजितो...	(रश्मिपरि.)	५३
तं व्यासाशयगोचरं प्रथयितुं यैः...	(अणुभा.प्रका.मंग.१।१।१।४)	२६
तत्त्वमसि...	(छान्दो.उप.६।८।१०)	५७
तथा कार्यं समर्प्यैव...	(सि.र.८)	६१
तथा परमहंसानां मुनीनाम्...	(भाग.पुरा.१।८।२०)	९५
तदभावे स्वयं वापि...	(त.दी.नि.२।२२८)	६७
तद् ऐक्षत बहु स्याम्...	(छान्दो.उप.६।२।३)	५७
तदेतद् ब्रह्मा प्रजापतये...	(छान्दो.उप.३।११।५)	२६
तस्मात् श्रीवल्लभाख्य!...	(वल्लभा.३)	३०
ते होचुः, उपकोसल!...	(छान्दो.उप.४।१४।१)	२६
तौ शुक्लकृष्णौ...	(भाग.पुरा.१२।८।३३)	३८
त्यक्तेन भुञ्जीथा...	(ईशा.उप.१)	६२
दर्शनाच्च...	(ब्र.सू.३।२।२१)	१०३

दानं स्वकीयतात्यागः...	(द्र.सि.र.पुरु.वि.५)	६०
द्वितीयाद् वै भयं भवति...	(बृह.उप.१।४।२)	५७
धनं सर्वात्मना त्याज्यं...	(त.दी.नि.२।२५२)	७०
न वा अरे सर्वस्य...	(बृह.उप.२।४।५)	५६
नत्वा श्रीवल्लभाचार्यान्...	(यमुना.द्वारि.मंग.१)	६५
ननु आनन्दांशतिरोभावे....	(त.दी.नि.प्र.२।१००-१०३)	२७
ननु धर्माः नाम के...	(अणुभा.३।२।२८-२९)	२८
न रोधयति मां...	(भाग.पुरा.११।१२।१)	९३
नमामि श्रीमदाचार्यान् प्रभून्...	(सि.मु.लालू.मंग.२)	६६
नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः...	(छान्दो.उप.७।७।४)	७४
नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो...	(कठोप.२।२३)	८७
नास्ति सत्यात् परो धर्मः...	(शान्तिपर्व.१६२।२४)	९
निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्...	(भाग.पुरा.१।१।३)	८४
निवेदनस्य किं फलम्...	( )	५९
पदाम्भोजरजोमहत्त्वम्...	(ललितत्रिभंगस्तो.व्या.१)	४२
परम वेद्य तो परब्रह्म ही है...	(वेदार्थसंग्रह)	७२
पराभिध्यानात्तु तिरोहितं...	(३।२।५)	९७
पराशर्य महाभाग भवत...	(भाग.पुरा.१।४।२)	१०९
पितृप्रवर्तितपथप्रचारसुविचारकः...	(नामर.स्त्रो.१२)	५४
पुराण न्याय मीमांसा...	(ब्र.सू.शा.भा.भा.१।१।३)	७२
पुराणं वेदवत् पूर्वसिद्धं...	(त.दी.नि.२।४८)	१०३
पूरणपुरुष परन्तु प्रमाणमार्ग...	(वल्लभा.ब्रजाभ.९।३)	३७
पूर्णपुरुष जो सर्वगुण करिके...	(वल्लभा.श्रीजीव.विवृ.९।३)	३७
पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः...	(ज.भे.१४)	३४
प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह...	(पाणि.काशि.वृ.१।२।५६)	३९
प्रणम्य श्रीमदाचार्यान् प्रभून्...	(सि.मु.पुरु.मंग.१)	६६
प्रमाणं तच्चतुष्टयम्...	(त.दी.नि.१।)	७८
फलं वा साधनं यत्र...	(पु.लक्ष.१)	५६

फलम् अतः उपपत्तेः...	(ब्र.सू.३।२।३८)	८६
बहु स्याम् प्रजायेय...	(छान्दो.उप.६।२।३)	५६
ब्रह्म तो केवल उपनिषद्वेद्य...	(ब्र.सू.भा.१।१।१)	७९
ब्रह्मसूत्र-महाभारत-गायत्री...	(श्रीमद्भागवततात्पर्यनिर्णय.१।१)	८२
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिः विनिश्चितैः...	(भग.गीता.१३।४)	१०३
ब्रह्मा भवो अहमपि यस्य...	(भाग.पुरा.१०।६८।३७)	३२
भगवतो...शेषः संकर्षण...	(रश्मिपरिशिष्टे श्लो.७)	५१
भीषास्माद् वातः पवते...	(तैत्ति.उप.२।८)	५५
ममैवांशो जीवलोके...	(भग.गीता.१५।७)	५७
मर्त्यावतारस्तु इह मर्त्यशिक्षणं...	(भाग.पुरा.५।१९।५)	९५
महान् ऋग्वेद आदि...	(ब्र.सू.शा.भा.१।१।३)	७२
मार्गशीर्षे पौर्णमास्यां...	(संव.कल्प.मार्ग.६-१२)	४१
यतो वाचो निवर्तन्ते...	(तैत्ति.उप.२।९)	५५
यथा कथंचिद् माहात्म्यं...	(त.दी.नि.प्र.१।४१-४२)	५८
यथा नारायणो...	(सुबो.टिप्प.१०।१।१)	४०
यथा सौम्य पुरुषम्...	(छान्दो.उप.६।१४।२)	२५
यदा भगवान् स्वशक्तिरूपेण...	(सुबो.२।९।१३)	५१
यदाश्रयवतामेव वल्लवीजनवल्लभः...	(बा.बो.देव.प्र.१)	६६
यद् यद् इष्टतमं लोके...	(त.दी.नि.२।२३६)	५५-५९
यद्यद् धिया त उरुगाय...	(भाग.पुरा.३।९।११)	५५
यद्वाँछयैव मोक्षान्ताः पुमर्थाः...	(सि.मु.गोकु.मंग.)	६६
युवां मां ब्रह्मभावेन पुत्रभावेन...	(भाग.पुरा.१०।३।४५)	५५
यो वै भूमा तत्सुखम्...	(छान्दो.उप.७।२३।१)	५५
योऽन्यथा सन्तम् आत्मानम्...	(महाभा.१।६८।२६)	३६
लोकवत्तुलीलाकैवल्यम्...	(ब्र.सू.२।१।३३)	६९
वस्तुतः कृष्णएव...	(वल्ला.८)	६५
वेद श्रीकृष्णके वाक्य (गीता) ...	(त.दी.नि.१.७-९)	७६
वेदकी तरह पुराण भी पूर्वसिद्ध...	(त.दी.नि.२।४५-५०)	७३

वेदम् अनूच्य आचार्यो...	(तैत्ति.उप.१।११।१-२)	२५
वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि...	(त.दी.नि.१।७)	६३
शास्त्रोंमें ब्रह्मका जगत्कारण...	(ब्र.सू.भा.१।१।२)	७३
शेषं च मत्कलां सूक्ष्माम्...	(भाग.पुरा.८।४।२०)	३१
शेषनागो भवेद् रामः...	(कृष्णोप.१२)	३१
श्रीकृष्णं पूजयेद् भक्त्या...	(त.दी.नि.२।२२९-२३०)	५९
श्रीप्रभूत्सवः... यस्य देवे...	(रश्मिपरि.)	५१
श्रीवल्लभकुलके बालक सबे...	(वल्लभसाखी.६६)	४७,५०
श्रीवल्लभप्रतिनिधिं तेजोराशिं...	(अणुभा.प्रका.१।१।१)	४६
श्रीवल्लभप्रतिनिधिं तेजोराशिं...	(अणुभा.प्रका.१।१।१।५-६)	३२
श्रीविट्ठलेश्वरं नत्वा स्वेषां...	(पु.प्र.मा.कल्या.मंग.१)	६६
श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभभ्यः...	(छान्दो.उप.४।९।३)	२६
स एकाकी न रमते...	(महोप.१।१)	५६
सदालिसेवितौ वन्दे...	(सत्सि.मार्त.मंग.५)	६६
सर्वं खलु इदं ब्रह्म...	(छान्दो.उप.३।१४।१)	५७
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं...	(भग.गीता.१८।६६)	८४
सर्वस्यास्य तु...	(मनुस्मृ.१।८७-९०)	२८
सर्वेषां प्रमाणानाम्...	(त.दी.नि.१।१०४)	७८
सच्चिदानन्दकम् इति एते...	(सि.मु.प्र.३)	२७
सर्वानुग्रहकृन्मन्त्रवित्तमः...	(नामर.स्तो.२३)	६०
सुखदाता लघुभ्रातनाँ पूरणपुरुष...	(वल्लभा.९।३)	३२
सेवाकानां यथा लोके...	(सि.र.७)	६१
सोऽपि तैः तत्कुले जातः...	(पु.प्र.म.२६)	३०
स्मरन्ति च...	(ब्र.सू.३।१।१४)	७४
स्मर्यते च...	(ब्र.सू.४।२।१४)	७४
स्मृतेश्च...	(ब्र.सू.१।२।६)	७४
स्ववंशे स्थापितम्...	(सर्वो.श्रीहरिरायकृतभाववर्धिन्यां.६४)	५०
स्ववंशे स्थापिताशेषस्वमहात्म्यः...	(सर्वो.स्तो.२२)	३२

स्वाचार्यैः श्रीविट्ठलेशैः तथा... (उप.सुधा.१६१-१६४) ४८
षट्सु औत्संगिकस्वरूपेषु... (रश्मिपरिशिष्टे.श्लो.१५) ५१

परिशिष्ट–३

श्रीगोपीनाथप्रभुचरणोंकी श्रीजगन्नाथपुरिकी यात्राका सचित्र वर्णन करते अतिप्राचीन ताड़पत्रकी फोटोकॉपी

श्रीगोपीनाथप्रभुचरणोंकी श्रीजगन्नाथपुरिकी यात्राका
सचित्र वर्णन करते अतिप्राचीन ताड़पत्रकी फोटोकॉपी